Om ! Ma !!
3/32 B
LIBRARY
No. 3/32 B
BANARAS
32 B

स्पन्द-तत्त्व

SP 1.3

[एक प्राचीन साधना-पद्धतिका विवरण]

Sri Ma Anandamayee
Ashram Library
Varanasi.

PRESENTED

LIBRARY
No. ....
BANARAS

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल', २८/१६
बी० जी० खेर मार्ग
बम्बई–६

प्रथम : संस्करण
प्रतियाँ : २,०००
सितम्बर : १९७२
मूल्य : तीस पैसे मात्र

मुद्रक :
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन-प्रेस
सीके० ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी–१

LIBRARY
No. 3/32 B.
Shri Shri ... Ashram
BANARAS

PRESENTED

स्पन्द-तत्त्व

[एक प्राचीन साधना-पद्धतिका विवरण]

सिद्धपरम्परामें अत्यन्त प्राचीनकालसे परमतत्त्वका ही एक नाम 'स्पन्द' प्रचलित है। शुद्धात्मा, शंकर, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता और सामान्य—ये इसके नामान्तर हैं। 'कश्मीरी' प्रत्यभिज्ञा-दर्शन'के नामसे भी यह जाना जाता है। सर्वदर्शन-संग्रहमें इसको 'शिवदर्शन' कहा गया है। अभिनव गुप्तकी साधनपद्धतिसे इसका मेल है। आचार्य भट्ट कल्लटने अपने गुरु वसुगुप्तसे इसका रहस्य प्राप्त करके पचास कारिकाओंमें निबद्ध कर दिया था। दसवीं शताब्दीके मध्यमें उत्पलाचार्यने 'स्पन्द-प्रदीपिका'के नामसे इसपर टीका लिखी। यह पुस्तक संस्कृत-भाषामें है और केवल एकबार सन् १८९८ ई०में मेडीकलहाल प्रेस, काशीसे प्रकाशित हुई थी। हिन्दी पाठकोंकी जानकारीके लिए इसका सार-संक्षेप प्रस्तुत है।

स्वयं परमतत्त्व स्पन्द ही शब्द द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करता है (आगम-रहस्य एवं षाड्गुण्य-विवेक)। जैसे सतमंजिले महलपर चढ़नेके लिए सोपानकी और नदी-पार करनेके लिए नावकी आवश्यकता होती है, वैसे ही भगवान् शास्ताके अधिगमके लिए शास्त्रकी अपेक्षा होती है (पञ्चरात्र)। सिद्ध एवं साधारण

पुरुषमें एक विलक्षण सम्बन्ध होता है, उसके बिना इस यथार्थ तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। इस ग्रन्थमें स्पन्द वाच्य है और शब्द वाचक है। 'स्पन्द' शब्दका अर्थ होता है—किञ्चित् हिलना। निस्तरङ्ग परमात्मामें जो एकसाथ सर्वरूपसे उन्मुख होनेकी योग्यता है वही किञ्चित् चलन है। इससे उसकी निर्विकल्पताका भंग नहीं होता। व्यवहारमें जितने ज्ञान होते हैं उनमें पदार्थोंके उदयका क्रम होता है। परन्तु उनसे विलक्षण एक अनन्त चिद्रूप प्रमाता है, संविद् है। वस्तुतः वही महेश्वर है। उसीसे सभी भेदोंकी सिद्धि होती है (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)। यही चित्, संवित्, ज्ञान और बोधके नामसे भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः यही निरावरण चित्स्वरूप होनेके कारण दिक्कालादिके अवच्छेदसे रहित है, अद्वितीय है और यह केवल श्रद्धागम्य अथवा परोक्ष नहीं है, स्वानुभवैक्यप्रमाण है। यही शक्ति-चक्रका परमेश्वर आत्म-चिन्तामणि है। यही उपेय होनेके कारण अभिधेय है।

अच्छा, तो यह चिन्तामणि क्यों है? यह शास्त्रोंके द्वारा उद्घोषित स्वानुभूति होनेके कारण। पौष्कर-संहितामें कहा गया है—चिन्तामणिमें ढूँढ़नेपर स्वरूपतः किसी वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती, परन्तु जो चाहो वही वह दे देती है। सर्वशक्ति ब्रह्म ऐसा ही है।[1] परमार्थसारमें भी कहा है—भगवान् तो सब कुछ है परन्तु जिस-जिस भावसे उसकी उपासना की जाती है, चिन्तामणिके समान वही-वही होकर मिलता है।[2] ज्ञानसम्बोधमें

---

१. चिन्तामणौ स्वरूपेण न किञ्चिदुपलभ्यते।
अथ चाभिमतं सूते ब्रह्मैवं सर्वशक्तिकम्॥

२. सर्वाकारो भगवानुपास्यते येन येन भावेन।
तं तं भावं भूत्वा चिन्तामणिरिव समभ्येति॥

भी ऐसा ही है। ज्ञानकी शक्ति स्वभावसे एकरूप होनेपर भी संकल्पभेदसे नानात्वको प्राप्त हो जाती है जैसे एक ही चिन्तामणिसे लक्ष्मी अनेक रूप धारण कर लेती है।[1] इसीसे इसका नाम शिवशंकर है; क्योंकि यही आत्यन्तिक श्रेयका मूल है। वस्तुतः वह निर्नामक है। अभेदार्थ-कारिकामें सिद्धनाथने कहा है— परमार्थवस्तु भावशून्य, अग्राह्य और निराकार है। उसका शिव नाम भी कल्पनामात्र ही है। परमार्थ वस्तुमें न कहीं परिणाम है, न विवर्त। अथवा दोनों ही हों तब भी परमार्थ वस्तुके कोई खण्ड-खण्ड नहीं बनते।[2] संवित्-प्रकाशमें भी यही बात कही गयी है— निर्मलबोधैकस्वरूप परमार्थमें विवर्त और परिणाम दोनोंसे ही देह-परिग्रहकी सिद्धि हो सकती है। परमार्थ अच्युत है। विवर्तमें वैसा न होकर भी वैसा भासता है। परिणाममें भी वही है जैसे कुण्डलमें सुवर्ण।[3]

अब प्रश्न यह है कि ऐसा तत्त्व निरावरण कैसे है? हम तो जहाँ देखते हैं वहाँ उसको सुख, दुःख, मोह, स्पन्द, निःस्पन्द आदि

---

१. स्वभावादेकरूपाणि नानात्वं प्रतिपद्यते।
ज्ञानस्य शक्तिः संकल्पैर्लक्ष्मीश्चिन्तामणेरिव॥

२. वस्तुनो भावशून्यस्य त्वग्राह्यस्य निराकृतेः।
कल्पनामात्रमेवैतत् यच्छिवव्यपदेशनम्॥
नेत्थं विभोर्विवर्तोऽस्ति परिणामश्च न क्वचित्।
अथ वा द्वयमप्यस्तु तथाप्यस्य न खण्डना॥

३. इति निर्मलबोधैकरूपे देहपरिग्रहः।
विवर्त - परिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युपपद्यते॥
विवर्तेऽप्यतथारूपस्तथा भासि त्वमच्युत।
परिणामे स एव त्वं सुवर्णमिव कुण्डले॥

गुणोंसे आवृत ही देखते हैं। इस आक्षेपका समाधान यह है। ये सुख-दुःखादि ज्ञेय होनेके कारण स्वयं सत्ताशून्य हैं। ज्ञाताके आश्रयसे ही इन्हें प्रतिष्ठा-सी प्राप्त होती है। जिनकी बुद्धि अप्रबुद्ध है, वे अपने शुद्ध-बुद्ध स्वरूपका परित्याग करके कामनावश अहंभावसे तादात्म्यापन्न हो जाते हैं और अपने अनन्तस्वरूपको संकुचित (छोटा) कर देते हैं और यह संकोच केवल अविद्याकृत है। निज संवित्-स्वरूप तो अद्वितीय ही है। अतः स्वरूपस्थित महापुरुषोंको यह भ्रम नहीं होता। आगे चलकर यह बात स्पष्ट हो जायगी।

धातुसमीक्षामें कहा गया है—यह अविद्याशबल आत्मा ही प्रमेयके रूपमें स्थित है अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका भेद सच्चा नहीं है। अविद्या शबलित आत्माने अपने निज स्वरूपका ग्रहण नहीं किया। अविद्या स्वयं अनृत है, असत्य है। अनृत वस्तु नहीं होती। अवस्तु वस्तुका नाश या विकार नहीं कर सकती। अन्धकारसे आच्छादित होनेपर भी रज्जुखण्डमें कोई विकार नहीं होता और न तो नाश ही होता है। इसीप्रकार अविद्यासे आत्मामें कोई विकार या नाश नहीं होता। अतः इस ज्ञानरूप परमात्मामें न स्वतः बन्धन है, न परतः। अज्ञातसे ही यह बद्ध जान पड़ता है और अज्ञान मिट जानेपर मुक्त तो पहलेसे है ही।[1]

---

१. अविद्याशबलस्यास्य स्थितं मेयत्वमात्मनः।
गृहीतं न निजं रूपं शबलेन तादात्मना॥
सा चाऽनृतात्मिकाऽविद्या नानृतस्य हि वस्तुता।
नाऽवस्तु वस्तुनो नाशं विकारं वा करोत्यतः॥
नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया।
नाशो वा क्रियते यद्वत् तद्वन्नाऽविद्ययाऽऽत्मना॥

तत्त्वयुक्तिमें कहा गया है कि संसारके प्राणी जिन-जिन भयङ्कर कर्मोंसे बँधते हैं, वे भी मुक्तिके उपाय ही हैं। किन्तु मूर्खतावश वे उसीसे भवबन्धनसे मुक्त नहीं हो जाते। कुलयुक्तिमें भी कहा गया है कि पतन और अभ्युत्थान दोनोंका एक ही कारण है। अज्ञानी जिससे बँधता है, ज्ञानी उसीसे मुक्त होता है। उत्पलाचार्यका कहना है कि जिन कारणोंसे मूर्ख दुखी होता है, उन्हींने प्रज्ञावान् दुःख पार हो जाता है। लोहेका गोला पानीमें डूब जाता है और उसीका पात्र बना दें तो तैरने लगता है।[1]

गीतामें भी स्पष्ट कहा गया है कि जिसमें सारी कामनाओंका प्रवेश हो जाता है, उसीको शान्ति मिलती है, कामकामीको नहीं (२.७०)। इससे भी पहले राग-द्वेष रहित इन्द्रियोंसे किये गये भोगको प्रसादका साधन कहा गया है (२.६४)। एक महात्माका वचन है—जो परमार्थ-ज्ञानी आत्मभावका परित्याग किये विना विषयोंपर अनुग्रह करते हैं वे ही जीवन्मुक्त हैं। विषय आत्माके ही स्पन्द हैं; जैसे नट अन्य रूपमें प्रतीत हो।[2] चिच्छक्ति-संस्तुतिमें योगिनाथने कहा है कि शक्तिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे ही उदय और प्रलय होते हैं। अतः ये सब शक्तिके ही स्पन्द हैं। सादृश्य

नाऽतः स्वतो न परतो बन्धोऽस्य परमात्मनः।
बद्धोऽथाऽविद्यया जीवो मुक्तिस्तस्त हि तत्क्षये॥

१. सीदति येनैव जडः प्राज्ञस्तेनैव सन्तरति दुःखात्।
पिण्डितमयोऽप्सु मज्जति तदेव पात्रीकृतं प्लवते॥

२. असन्त्यक्तात्मभावानां विषयाननुगृह्णताम्।
विज्ञातपरमार्थानां जीवतामेव मुक्तता॥
ते चैवास्यात्मनः स्पन्दो नटस्येवान्यरूपता।

न होनेपर भी ये ठीक वैसे ही हैं जैसे अग्निसे धूएँका निकलना, आकाशमें नाना आकृतियोंका दीखना। अद्वैत परमात्मामें यह द्वैतरूपा सृष्टि वैसी ही है। सूर्योदयके पूर्व नाकसे पानी निकलने लगता है साकार और सूर्योदय होनेपर वह शान्त हो जाता है निराकार।

अव इसी विषयपर विचार प्रारम्भ करते हैं। क्योंकि शास्त्रका प्रयोजन है उपाय और उपेयका प्रदिपादन। उसके ज्ञानसे उपेयस्वरूपकी अनुभूति स्थिर हो जाती है। यह भी ध्यानमें रखने योग्य है कि यह दर्शन स्वतन्त्र है और इससे अद्वैत-प्रतिपादक शास्त्रोंकी सङ्गतिमें कहीं बाधा नहीं पड़ती। विमर्शस्वरूप स्पन्दभूमिपर आरूढ हो जानेपर पश्यन्ती आदिके क्रमसे वाणीकी उत्पत्ति होती है और 'संवित्प्रकाश'के अनुसार वह वाणी ही विश्वका उदय-विलय करती है, कार्यानुरूप नाम धारण करती है और चराचरकी विचित्र जीवन-यात्राका निर्वाह करती है। प्रणयन और संकोच—दोनों उसीके रूप हैं। इन्हींमें नाम-रूप तथा व्यवहारका निर्वाह निवास करता है। यदि इस शक्तिकी सत्ता स्वीकार न करें तो किसी वादीकी ही सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि वादका प्रकाशक भी यही है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'में इसको आदिसिद्धि कहा गया है। यह अपना आत्मा आदिसिद्ध, ज्ञाता, कर्ता एवं महेश्वर है। कोई भी चेतन पुरुष इसका निषेध अथवा सिद्धि करनेके लिए अपेक्षित नहीं है। जिससे सब सिद्ध होता है, वही आत्मा है। सबका निषेध करने पर जो शेष रह जाता है, वही तो आत्मा है।'

१. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ? ॥

ऐसे सम्पूर्ण विषयाकार-वृत्तियोंके आदि, मध्य, अन्तमें प्रकाशमान स्वयं सिद्ध परमार्थके सम्बन्धमें विप्रतिपत्ति (अग्रहण अथवा अन्यथा ग्रहण, संशय) होनेका कारण केवल मोह ही है। जैसे कोई छोटा राजा चक्रवर्ती सम्राट्से कुछ थोड़ी-सी चतुरंगिणी सेना और सामग्रीकी याचना करके प्राप्त कर ले और फिर उसीसे साम्राज्य छीननेके लिए युद्ध करे तो वह छोटा राजा अपना विनाश ही कर बैठता है, वैसे ही आदिसिद्ध आत्मासे शक्ति प्राप्त करके जो वृत्ति या वृत्त्यारूढ पदार्थ आत्माका ही अपलाप करता है; अन्ततोगत्वा उसकी च्युति निश्चित है। इसप्रकार इस आत्मसत्ताका किसीसे पराजित न होना स्वतःसिद्ध है। कारिकाका प्रथम श्लोक यह है—

यस्योन्मेष-निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥ १ ॥

मंगल श्लोकमें शंकरकी स्तुति-नति है। जो भोग और मोक्ष, श्रेय और प्रेय—दोनोंका दाता है, वह शंकर है। निर्मलता अर्थात् अद्वैत ही उसका स्वभाव है। इस सिद्धान्तमें जीवन्मुक्ति ही मोक्ष है। संविद् ही ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता एव ईश्वर है। यह कोई अध्यारोप अथवा अध्यास नहीं है। इस संविद्में एक साथ सब है। 'सर्वज्ञभैरव'में कहा है—किसी और स्थानपर जाना या कोई स्थान-विशेष मोक्ष नहीं है। अज्ञान-ग्रन्थिका खुल जाना ही मोक्ष है।[१]

महाभारतके मोक्षधर्ममें राग-द्वेषादि क्लेशसे दूषित चित्तको ही संसार और उनसे विनिर्मुक्त चित्तको मोक्ष कहा गया है। बौद्ध-सिद्धान्तमें भी रागादि-मलिन चित्तको संसार कहा गया है और

---

१. नान्यत्र गमनं स्थानं मोक्षोऽस्ति सुरसुन्दरि।
अज्ञानग्रन्थिभेदो यः स मोक्ष इति कथ्यते ॥

पवित्र चित्तको मोक्ष। 'नारदसंग्रह' का भी यही कहना है कि सभी विकल्प संसार है। विकल्पके अतिरिक्त कोई बन्धन नहीं है। ग्रन्थकर्ताका कहना है कि बन्धन, बन्धनकर्ता और बद्ध—ये तीनों एक ही हैं। सब अपने विकल्पसे ही बँधे हुए हैं। 'आत्मसप्तति'में उल्लेख है कि वस्तुस्थितिसे बन्धन नहीं है, फिर मुक्ति कहाँ होगी। दोनोंको विकल्पने गढ़ा है। वस्तुतः बन्धन-मुक्ति कुछ नहीं है। 'पंचरात्र'में आत्मसंवित्के लिए भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति शब्दका प्रयोग किया गया है। 'भगवान्' शब्दकी वही व्याख्या है जो वैष्णवमतमें। यदि भगवान् और संवित्की अभिन्नता अभिमत न होती तो एकतत्त्वमें स्तोता, स्तुत्य और स्तुतिका भेद कहाँ-से आता? जैसे अपनी छायाका उल्लंघन सम्भव नहीं है, वैसे ही अद्वैतका उल्लंघन सम्भव नहीं है। ज्ञेयको अपने स्वरूपसे एक करके ज्ञानको देखो; फिर ज्ञान और ज्ञेयका कोई भेद नहीं है। ये सारे भेद केवल शाब्दिक हैं और वह भी केवल विकल्प। शब्दका कारण विकल्प है और विकल्पका कारण शब्द। 'राहुका सिर' अथवा 'घृतकी धारा'—इन वाक्योंमें प्रतीयमान भेद केवल विकल्प ही है। जो अपने संविद्में अभिन्न है वह वाग्व्यवहारका विषय होनेपर भी अभिन्न ही है।

व्यवहारका निर्वाह वचनसे ही सम्पन्न होता है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। यह युक्तिसिद्ध है, केवल शास्त्रोक्त परोक्ष स्वर्गवत् नहीं है। कोई कार्य बिना संकल्पके नहीं होता और वाक्के बिना कोई विकल्प नहीं होता। इस वाक्का मूल बोध है, आत्मा है। 'जयाख्यसंहिता'में इससे विस्तारसे उपपादन किया गया है। मात्रा, अतिसूक्ष्म, परम, मध्यम, स्थूल और स्थूलतर शब्दके अनेक भेद

होते हैं। प्रत्येक व्यवहारमें वह किसी-न-किसी रूपमें स्थित रहता है। यही शिवशंकररूप संवित् शारीरिक, शाब्दिक अथवा मानसिक व्यवहारका पूर्वरूप है। मंगलाचरणमें उसीकी स्तुति की गयी है।

वह क्या है ? जिसके उन्मेष अर्थात् उन्मुखतासे विश्वका उदय होता है और परम्परा चलती रहती है। जिसके निमेषसे—विश्रामसे प्रलय हो जाता है वही है। जैसे जाग्रत्-कालमें दृश्यका उदय और सुषुप्ति-कालमें दृश्यका प्रलय। आत्मसंवित्के उन्मेष और निमेषसे अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रलय नामकी कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मरूप ईश्वरकी शक्तिका प्रसार और विराममात्र है। विमल संवित्के दोनों ही आकार हैं। 'तत्त्वविचार'में कहा गया है कि जगत्का उदय और विलय शक्तिके प्रसार और संकोचके साथ बँधे हुए हैं। जिसकी वह शक्ति है, वही शिव—आत्मा है। 'कक्ष्यास्तोत्र'में भी यही भाव है—'तुम्हारे आशयके उन्मेष-निमेष मात्रको ही सृष्टि और प्रलय कहते हैं। यह बात विचित्र निर्माणको देखकर स्वयं स्पष्ट हो जाती है। उन्मेषमें ज्ञान-क्रिया आदिसे गर्भित इच्छा-शक्तिका निवास है और वह फैलती है। इच्छासे ज्ञान प्रवृत्त होता है और क्रिया-करणके संयोगसे पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसका विराम ही प्रलय है। उन्मेष और निमेष शब्दोंका मूल प्रयोग मंगलार्थक है, पादपूर्णार्थक है अथवा सृष्टिके आद्य होनेके कारण है। इसमें शब्द-क्रम विवक्षित नहीं है। उन्मेषमें मुक्ति है और निमेषमें मुक्ति; क्योंकि निमेष निस्तरंग है।

आत्मसंवित् रूप शिवशङ्करको 'शक्तिचक्र-विभवप्रभव' कहा गया है। शक्तियाँ अनेक होती हैं। 'मालिनीविजय'के अनुसार जगत्-स्रष्टाकी समवायिनी शक्ति इच्छा है। वही जब जगत्को

प्रकट करती है तब ज्ञानशक्ति हो जाती है। कर्योन्मुखी होनेपर क्रियाशक्ति। अर्थकी उपाधिसे इसके अनेक नाम हो जाते हैं, जैसे चिन्मामणिके। जैसे माता पचास वर्णोंके पुष्पोंकी माला पहने हुए हो, वैसे ही यह अकारादि स्वरवर्णोंकी माला धारण करती है। शक्तिचक्रके चार प्रकार हैं—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। इन्हींको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरा भी कहते हैं। इन्हींमें आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया निवास करती हैं। ये सभी शक्तियाँ आत्मसंवित्से अभिन्न ही हैं। पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित केवल चिदात्मामें जो परमानन्दका उल्लास है; वही परा वैष्णवी शक्ति है। इन्हीं शक्तियोंसे संवित् विग्रह धारण करती है; दानवोंका नाश करती है। हितकारिणी होनेसे इन्हीं शक्तियोंको माता कहा जाता है। ये सब शक्तियाँ विज्ञानदेह ही हैं।

यहाँ शक्तियोंके रहस्य-स्वरूपके प्रकाशनका प्रसंग नहीं है। उन्हें आप किसी भी मतके अनुसार कुछ भी मान लें। भिन्न-भिन्न मतोंमें खेचरी, इच्छा, परा, अघोरा, वामा, ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी, सौरी, वौद्धी आदिकी प्रधानतासे इनका वर्णन है। कोई-कोई इन्हें अक्षररूप और करणरूप भी मानते हैं। कुछ भी हो, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि इन सभी शक्तियोंके मूलकारण स्पन्दरूप भगवान् ही हैं। 'मायावामनसंहिता'में सभी शक्तियोंसे परिवारित एक ही भगवान्को ध्येय एवं उपास्य कहा गया है। 'कुलयुक्ति'का कितना सुन्दर वचन है—वेदान्त, वैष्णव, शैव, सौर, बौद्ध एवं अन्यान्य मत-मतान्तरोंमें एक शुद्ध आत्मा हो ज्ञाता और ज्ञेय—दोनों है। जाननेवाला ही जाना जानेवाला है। ठीक ही कहा कि जिसका उन्मेष और निमेष ही जगत्का उदय-विलय है, उसको हम नमस्कार करते हैं। सच तो यह है कि शक्ति-समूह ही अनन्त-

रूपमें स्फुरित हो रहा है। शक्तिमान् आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ जगत् हैं जैसे श्रेष्ठ सुन्दरीके अङ्ग-प्रत्यङ्गसे राशि-राशि लावण्य छलकता है, वैसे ही परमात्माकी चिन्मात्रता ही जगत्के रूपमें छलक रही है। शक्तियोंके बलसे ही आत्माकी 'प्रभु' संज्ञा अन्वर्थ होती है।

अब प्रश्न यह है कि संसारी अवस्थामें आत्माका यह वैभव क्यों ढक जाता है? इसका उत्तर देते हैं मूल कारिकामें—

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित्॥ २॥

जिस स्पन्द-तत्त्वमें यह सम्पूर्ण कार्यजगत् ज्ञानरूपसे शक्त्यात्मक होकर अवस्थित है, निमेष दशामें भी वह ज्ञानरूप होनेके कारण अनावृत—अनाच्छादित ही रहता है। उसका कभी, कहीं, किसीप्रकार निरोध नहीं होता। बात यह है कि बोध्यकी स्वयं सत्ता नहीं है, अवबोधस्वरूप आत्मा दोनों अवस्थाओंमें अनावृत है। प्राचीन आचार्यका वचन है—'स्वर्णके आभूषणोंमें विचित्रता स्वर्णसे पृथक् नहीं है। नित्य स्वरूपकी विश्वरूपता भी ऐसी ही है। आभूषणरूप-रहित स्वर्ण पिण्डात्मक है। वेद्यरहित आत्मा चिदात्मक है।' 'ज्ञानसम्बोध'में भी ऐसा ही है—'विश्वका आश्रय आकाश है, आकाशका आश्रय विश्व नहीं है। ज्ञान आकाशके समान अनन्त है और ज्ञेय विश्वके समान अल्प है, किञ्चित् न्यूनसत्ताक है। जैसे आकाशमें किसीके द्वारा परिच्छेद वा प्रतिबन्ध नहीं है; क्योंकि वह व्यापक है। इसीप्रकार यह ज्ञानस्वरूप भी प्रतिबन्ध-रहित है।'

अच्छा, तो भले ही सर्ववृत्त्युपसंहाररूप-निरोध उसका न हो,

किन्तु जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें वह अनिरुद्ध कैसे रह सकता है ? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्यकी यह कारिका है—

जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ३ ॥

यह सच है कि जाग्रत् आदि अवस्थाएँ बदलती हैं परन्तु वे सब आत्मसंवित्से अभिन्न ही हैं। अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी स्पन्दतत्त्व अपने निज उपलब्धिमात्र स्वभावसे च्युत नहीं होता; क्योंकि वह उपलब्धा है। उपलब्धा तीनों अवस्थाओंमें समानरूपसे रहता है। भेद अवस्थाओंमें होता है, अवस्थाताओंमें नहीं। विष-वृक्षका अंकुर क्या छोटा, क्या बड़ा, विषमें भेद नहीं होता। जाग्रत्, स्वप्नमें संवेदन प्रसिद्ध है। सुषुप्तिके उत्तरकालमें भी सुख-निद्राका संवेदन होता है। संवेत्ता अक्षुण्ण है। जलकी लहरियोंके साथ प्रतिबिम्ब हिलता है, परन्तु, चन्द्रमाके साथ उस क्रियाका स्पर्श नहीं होता। अवस्थाएँ नाचती हैं, अपना रूप बदलती हैं, परन्तु परमात्मासे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे अंगकी कोई चेष्टा अंगसे अभिन्न ही है, वैसे ही कोई भी भेद परमात्माकी अंग-चेष्टा ही है। द्रष्टा इन्द्रियोंसे अर्थ ग्रहण करता है तो जाग्रत्, उनके बिना केवल मनसे अर्थग्रहण करता है तो स्वप्न और जहाँ न अर्थ है, न स्मरण वह सुषुप्ति। परन्तु आत्मा शुद्ध बोधैकस्वरूप है, ज्यों-का-त्यों। यही उसकी तुरीयता है।

किसी-किसीका कहना है कि अवस्थाएँ तो विश्वके अन्तर्गत हैं परन्तु अवस्थाता नहीं। प्रत्यभिज्ञा आदि युक्तिसे उसका खण्डन करनेके लिए अगली कारिका है।

अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥

मैं सुखी-दुःखी, रागी आदि हूँ—यह सब संवेदन अर्थात् अवस्थाएँ हैं। वे भिन्न-भिन्न संवेदनोंसे अलग संवेत्ता-अवस्थाता अर्थात् सुखादिके उपलब्धामें उपरागरूपसे (ग्रहणकी कालिमाके समान) स्पष्ट रहती हैं। संवेत्ताके बिना भिन्न-भिन्न संवेदनोंकी भी सिद्धि नहीं होती। क्षणिक ज्ञानवादियोंके मतमें अनेक नदियाँ समुद्रमें मिलकर तादात्म्यके कारण एक जान पड़ती हैं परन्तु यह संवेत्ता केवल अवस्थाओंका तादात्म्य नहीं हैं। कार्य-कारण भाव अथवा बाध्य-बाधक भाव तबतक सिद्ध ही नहीं हो सकता, जबतक पूर्वदशा और उत्तरदशाका एक ही प्रमाता न हो। जब प्रत्येक क्षण विलक्षण होंगे, प्रत्येक संविद् पृथक्-पृथक् होगी तो पूर्ववर्ती प्रमाणसे उत्तरवर्ती प्रमेयको बोध कैसे होगा ? सम्बन्धका ग्रहण हुए बिना प्रमाणकी क्या गति होगी ? संवेत्ताके बिना मिथ्या ज्ञानका मिथ्यात्व कैसे सिद्ध होगा ? एक क्षणके अनन्तर शुक्तिका रजत हो जाय तो उनको कौन रोक सकेगा ? वस्तुतः सवेत्ताके एक हुए बिना प्रमाण-अप्रमाणका भेद ही नहीं रहगा। घटकी सिद्धि होगी और अनुभव पटका होगा। 'यह वही हैं' यह प्रत्यय भी क्षणिक विज्ञानवादियोंके मतमें नहीं हो सकता। अतः पूर्व-विज्ञानकी स्मृति जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं—सर्वथा प्रामाणिक हैं। इसलिए नित्यस्वभाव आत्मा ही संवेत्ता है। सच्ची बात तो यह है कि एक प्रमाता आत्माकी सिद्धिके बिना प्रमाण भी अप्रमाण हो जायगा; क्योंकि सबकुछ क्षणिक और अनिश्चित होगा। क्षणिक ज्ञानमें कार्य-कारणकी सिद्धि कैसे होगी ? स्मृति-बीज कैसे होगा ? कारणका नाश कैसे हो गया ! यदि नाश नहीं हुआ तो विनाशी कार्यका कारण कैसे हुआ ? अभावसे भाव-परम्परा कैसे चल सकती है ? यदि कार्यका नाश नहीं होता है तो वह क्षणिक कैसे हुआ ? जो दूसरे क्षण रह सकता है, वह सौ क्षण तक भी रह

सकता है। अभिप्राय यह है कि भाव सब स्थिर हैं। स्वरूपतः भावका अभाव नहीं होता। आत्मज्ञानसे कुछ भी क्षणिक नहीं है। निश्चयके बिना बाध्य-बाधक भाव भी सिद्ध नहीं होता। स्थिरताके बिना शुक्तिमें रजत-भ्रान्ति मिटानेका क्या अर्थ होगा? अतः ज्ञान एक है, नित्य है। वह क्षणिक और अनेक नहीं होगा।

'सत्कार्य-सिद्धि'में कहा गया है कि 'यदि प्रत्येक विज्ञान स्वतन्त्र हो तो एक दूसरेका संवेदन नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वावस्था और उत्तरावस्था—दोनोंका ज्ञाता एक प्रमाता होता है और वह विचित्र वृत्तियोंके द्वारा व्यवहारका आश्रय बनता है। अनेक वृत्ति-ज्ञानोंका अनुसन्धान एक अजन्मा ज्ञानको होता है। गीताका यह वचन सर्वथा सत्य है कि एक ही चेतन स्मृति-ज्ञान और अपोहनका हेतु है।' विरोधियोंके कुतर्क-पाषाणोंको चबानेमें कोई लाभ नहीं है।

संवेत्ताका स्वरूप क्या है? सुख-दुःख, राग-वैराग्य, मोह-प्रबोध आदि जितनी अवस्थाएँ होती हैं, उनमें वह मणियोंमें सूतकी तरह अनुस्यूत रहता है। 'मैं' पहले सुखी था, आज दुःखी हूँ, सुख-दुःखमें भेद है, मैं-में भेद नहीं। इस स्मृति और प्रत्यभिज्ञाका अनुसन्धान उसीको होता है। इन अवस्थाओंमें भी वह सावरण नहीं है; क्योंकि ये अवस्थाएँ विकल्पमात्र हैं और अनित्य हैं: संवेत्ता इनसे अतिरिक्त है। अविद्यावरण तो केवल उपरागमात्र है; जैसे चन्द्रमा या सूर्य पर ग्रहण। अन्धकारसे आच्छन्न होनेपर रस्सी साँप नहीं बन जाती और न तो नष्ट होती है। इसी प्रकार अविद्या आत्माका कुछ बिगाड़ नहीं सकती—यह भर्तृहरिका वचन है।

'संवित्प्रकाश' का कहना है—'स्फटिकका स्वभाव अत्यन्त निर्मल है परन्तु जपाकुसुम आदिका उपराग होनेपर स्फटिक लाल

दीखता है। भगवान् संवेत्ताका अत्यन्त निर्मल शरीर भाव-समासक्त होकर विविध प्रकारका उपलब्ध होता है। जैसे स्फटिक रङ्गीन नहीं हो जाता, वैसे भावयुक्त होनेपर संवित् वैसी नहीं हो जाती। यह आत्म-संवित् उपरक्त होनेपर भी अपने निजरूपका परित्याग नहीं करती। रूपान्तरित न होनेपर भी यह रूपान्तरित दीखती है। बात यह है कि जो कुछ दीखता है—सब कुछ उसीका तो विलास है। शुद्ध अनुभव विविध आकारोंसे अपने आकारका परित्याग नहीं करता, निर्मल ही रहता है। श्वेत वस्त्रपर कोई रङ्ग चढ़ा, उतर गया; दूसरा चढ़ा, उतर गया। श्वेत वस्त्र ज्यों-का-त्यों है। इसी प्रकार शुद्ध चेतन तत्तत् आकारके रागसे तत्तदाकार भासता है परन्तु रहता है शुद्ध। क्या ही सुन्दर वचन है—नील, पीत, सुख-दुःख—सबमें चित् स्वरूप अखण्डित ही रहता है। चित्र-विचित्र उपाधि-सम्पदासे विकल्प उसको विशिष्ट-विशिष्ट दिखा देता है।'

विकल्पोंसे विलक्षणका स्वरूप बतलाते हैं—

न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः॥ ५॥

वह स्पन्दतत्त्व परमार्थतः है; क्योंकि वह नित्य है। उसमें न आध्यात्मिक दुःखादि हैं और न वैषयिक सुख। घटपटादि ग्राह्य भी नहीं है। मैं इन्हें ग्रहण करनेवाला सविकल्प ग्राहकरूप प्राकृत अहंकार हूँ—ऐसा भी नहीं है; क्योंकि अहंकार तो अविद्याके बिना होता ही नहीं है। इससे अधिष्ठातारूप ग्राहक अहंकारका अभाव बताना अभीष्ट नहीं है; क्योंकि उसको तो जानता ही है। 'तत्त्वगर्भ' में कहा गया है कि परमार्थमें ग्राह्य और ग्राहक कुछ नहीं। परमार्थके ज्ञानके बिना अपनी छाया ही आभासके समान

जान पड़ती है। तब वह स्पन्दतत्त्व क्या पाषाणके समान मूढ़ या शून्य है ? नहीं-नहीं, वह जड़ नहीं है, स्वप्रकाश सर्वाविभासक है। जैसे शीतकाल और उष्णकालके मध्य न शीत है, न उष्ण है, वैसे ही सुख-दुःखके मध्यमें न सुख है, न दुःख है परन्तु वह दोनोंमें हैं।' 'तत्त्वस्तुति' में ऐसा वचन है—'जैसे आकाशमें बिना अन्यभावके, सम्बन्धके सूर्यका उदय होता है, इसी प्रकार वेद्यके बिना ही अपनी स्वताका प्रकाश होता है। विशेषके बिना सामान्य अथवा व्यक्तिके बिना जातिका पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता, परन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि सामान्य = जाति है ही नहीं। स्वसंवेदन—सवेद्य, सविन्मयी स्थिति नित्य शुद्ध निजस्वरूप है। उसमें सुख-दुःखकी कोई विशेषता नहीं है।' और तो और, नागार्जुनने भी कहा है—'सब आलम्बन, धर्म, सब तत्त्व और सब क्लेशाशयसे सम्पूर्णतः शून्य है वह तत्त्व, परन्तु परमार्थतः शून्य नहीं है।' आलोकमाला' और विलक्षण ढंगसे तत्त्वको प्रकाशित करती है। उसका कहना है—'वह तमोवृत्तिके विरुद्ध है, इसलिए तमोवृत्तिको कभी अवकाश नहीं देती। वह सचमुच साधारण जनोंके लिए कोई अविज्ञेय अवस्था है, उसे हम शून्यता कहते हैं। लोकरूढ़िमें जो नास्तिकताका बोधक शून्यता शब्द है, वह हमारे 'शून्य' का अर्थ नहीं है।

यह जड़ नहीं है और निश्चित रूपसे है, इसका उपपादन करते हैं—

> यतः करणवर्गोऽयं विमूढा मूढवत्स्वयम्।
> सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः ॥ ६ ॥
> लभते तत् प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात्।
> यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥ ७ ॥

इसी स्पन्दतत्त्वसे यह बाह्य करणवर्ग अर्थात् ज्ञान-कर्मेन्द्रिय अन्त:करण-चक्रके साथ मूढ़ चेतन होनेपर भी विचेतनके समान स्वयं प्रवृत्ति, स्थिति और संहारकी अवस्थाओंको प्राप्त करता है। आप देखते ही हैं कि चुम्बकके सन्निध्यसे लौह क्रियाशील हो जाता है। वायु और अग्निके सम्पर्कसे लौह-पिण्ड अग्निवत् दाह-पाक प्रकाशमें समर्थ हो जाता है। भला, यह तो सोचिए कि जो दूसरोंको चैतन्य बनानेमें समर्थ है, वह स्वयं नि:स्वभाव कैसे हो सकता है? इसका अभिप्राय यह है कि सभी चेष्टाएँ ज्ञानपूर्वक हैं। ज्ञानहीन शरीर मिट्टिका डला हो जाता है। निश्चय ही जड़वर्गका अधिष्ठाता और धारक है, अन्यथा आकाशमें पत्थरका टुकड़ा क्यों न टिक जाता? अत: उद्योग और श्रद्धा—दोनोंके द्वारा इस तत्त्वका परीक्षण एवं समीक्षण करना आवश्यक है। इस सिद्ध-पुरुषकी वाणी पर विचार कीजिये—'ब्रह्म नेत्रके समान ही अदृश्य है और नेत्रके समान द्रष्टा है। अपने आपमें ही इसकी उपलब्धि है, घटादिके समान दृश्य नहीं है।' इसकी स्थिति अकृत्रिम और स्वतन्त्र है। जैसे यह देहस्थ करणवर्गको चैतन्य बनानेमें स्वतन्त्र है, वैसे ही सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर और दृश्यवर्गको भी।

स्वातन्त्र्य ही उसकी इच्छाका सामर्थ्य है। देखिए, उसके विवेककी युक्ति—

नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते।
अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्॥ ८॥

यह जीवात्मा पुरुष केवल इच्छा-प्रेषण या करण-समूहकी प्रेरणाका स्वतन्त्र कर्ता ही नहीं है, प्रत्युत अपने निरावरण चिद्रूप ज्ञत्व, कर्तृत्व आदिरूप बलके स्पर्शसे वही हो जाता है अर्थात् यह स्वयं ही सर्वज्ञ, सर्वकर्ता है।

अबतक आत्माके पूर्ण स्वातन्त्र्यका निरूपण किया गया। यदि इसके अभिमानात्मक क्षोभका क्षय हो जाय तो कहना ही क्या ! अगली कारिका है—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ॥ ९ ॥

अनादि अशुद्धि अविवेकमूला अविद्या भोगाभिलाषा-मलसे आत्माकी शक्तिको संकुचित, सामर्थ्यहीन कर देती है। फिर उसको अपनी भोगाभिलाषाओंको पूर्ण करनेके लिए अनेक कर्तव्य करनेकी इच्छा होने लगती है। यही अज्ञान है। श्री सात्वतने कहा है कि अज्ञान, परिच्छिन्नता, सुखीपना, दुःखीपना—ये सब सर्वज्ञ आत्म-तत्त्वमें इसलिए आ जाते हैं कि वह कर्मचक्रका आलम्बन ले लेता है। इसीको दूसरे शास्त्रोंमें गमनागमन, प्रकृति, अशुद्धि, कर्म-वासना, माया, अविद्या, भ्रम, मोह, अज्ञान एवं मल आदि नामोंसे कहा जाता है। प्रकृति और पुरुषकी अनादिता समान होनेपर भी मायारूप प्रकृतिका लय हो जाता है और आत्मसंवित् ज्यों-की-त्यों रहती है। 'संवित्प्रकाश'में कहा गया है—'मायाका मायापन यही है कि तत्त्वसाक्षात्कार होते ही मिट जाती है। रज्जुका ज्ञान होनेपर सर्प, माला आदि माननेका प्रश्न ही कहाँ ?'[1] और भी कहा है कि 'तुम्हारे अतिरिक्त जो कोई दूसरी वस्तु है, इस प्रकार मालूम पड़ती है, वह विचार करनेपर गन्धर्वनगरके समान विलीन हो जाती है। केवल तुम्हीं शेष रहते हो। इसलिए तुम्हारा नाम शेष है।'[2] विद्याधिपतिका कहना है : 'समाधिका स्वभाव है—विषयका

१. मायात्वमेतदेव स्यान्नाशस्तत्त्वप्रदर्शनात्।
नहि विज्ञातरज्ज्वात्मा सर्पादीन्मन्यते पुनः ॥

२. त्वत्तो द्वितीयमिह वस्तु यदस्ति किञ्चित्
तत्तद्विचारपदवीमवतारितं चेत्।

भक्षण। जब युक्तिपूर्वक समाधि लगानेसे वह विषय प्रकाशको खा जाती है तब आपकी पदवी हो जाती है 'सर्वभोक्ता' और केवल आप ही अभक्षित रह जाते हैं। वह जादूगरके जादूके समान या ऐन्द्रजालिकको मायाके समान अपने बाधकमें ही रहती है; अर्थात् माया मायावीकी बुद्धिमें कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करती—अपने आश्रयको दुःख नहीं देती। जैसे आगसे धुआँ, जैसे दर्पणपर मल, जैसे पानीमें बुलबुले, ऐसा ही उसका स्वरूप है—फिर निर्विकार ही निर्विकार है'।[1]

यह क्षोभ क्या है? अशुद्धिजनित विकार। उसका केवल एक ही रूप है—देहमें अहंभाव। विवेकसे आत्मबलका स्पर्श होनेपर वह नष्ट हो जाता है तब परम पदकी प्राप्ति अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। 'षड्धातु-समीक्षा'का कथन है कि 'मोहमूलक कर्म संसारके कारण होते हैं। मोहका मिट जाना और कर्मका मिट जाना एक ही बात है। वही सच्ची शान्ति और स्वस्थता है।' 'नारद-संग्रह'का वचन देखिये—'जैसे भुना बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही विकल्परहित चित्त पुनर्जन्मसे मुक्त हो जाता है। यह क्षोभक्षय अभ्याससे धीरे-धीरे होता है।' 'स्वात्म-संबोध'का कहना है कि 'जैसे किसी पात्रसे आग हटा दी जाय तो भी वह

गन्धर्वपत्तनमिवोपलयं प्रयाति
त्वं शिष्यसे ध्रुवमतस्तव शेषसंज्ञा ॥

१. भक्षणप्रकृतिना समाधिना युक्तितो विषयधाम्नि भक्षिते।
सर्वभक्षपदवीमुपेयुषः शिष्यते परमभक्षितो भवान् ॥
सा चेन्द्रजालिनो मायेवाऽऽस्थिता बाधकात्मनि।
यथाऽग्नेर्धूमलेखेव मलवद् दर्पणस्य वा।
बुद्बुदाः सलिलस्येव तच्छान्तौ निर्विकारिता ॥

धीरे-धीरे ठण्डा होता है, वैसे ही अज्ञान-कीचड़के धो फेंकनेपर भी शनैः-शनैः कैवल्यका अनुभव होता है।' 'षाड्गुण्य-विवेक' में आत्मा और परमात्माका केवल इतना ही भेद बतलाया गया है कि अविद्याके कारण अहंभावका संकोच होनेसे यह आत्मसंवित् परमात्माको अभिन्न होनेपर भी भिन्न भासती है। जैसे स्वप्नावस्थामें कोई डर जाय। वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा निर्भय है, पर वह डरके मारे घबरा जाता है। क्या स्वप्नद्रष्टा और स्वप्न-दृश्यमें कोई पारमार्थिक भेद है? जब किसी वस्तुको 'मेरी' मान लिया जाता है तब मिथ्या भयका उदय होता है। 'यह पदार्थ स्वप्नवत् है' यह समझते ही भय भाग जाता है। इसी प्रकार 'मैं परमात्मरूप ही हूँ' इस भावनासे जिसकी अहंकार-ग्रन्थि नष्ट हो जाती है, वह अपनेको परमात्मस्वरूप ही देखता है।' 'संवित्प्रकाश'में कैसी सयुक्तिक उक्ति है—'ये सारे कर्म तुम्हीं करते हो और तुम्हीं हो। अहंकार नहीं है तो केवल तुम्हीं शेष हो। अहंभाव ही आत्माका परमात्मासे भेद है। वह भावनाभ्याससे नष्ट हो गया तो एकता-ही-एकता है।

स्वरूपस्थ, स्वस्थ पुरुषके गुणोंका निरूपण करते हैं—

तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्व-कर्तृत्वलक्षणः।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च॥ १०॥

जब क्षोभका प्रलय हो जाता है तब आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है और उसका सहज स्वभाव प्रकट हो जाता है। सहज स्वभाव क्या है? सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता। वह जो जानना चाहे, जान सकता है; जो करना चाहे, कर सकता है—अपने लिए भी, औरोंके लिए भी। 'पंचरात्र'में यह सहज धर्म 'विवेकज ज्ञान'के नामसे कहा गया है। जब उसका प्रादुर्भाव होता है, तब क्या होता है? यह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति हो जाता है।

यह बिना इन्द्रियोंके भी होता है। जैसे अग्नि दाह्य क्या है, इसका विचार नहीं करती, वैसे ही आत्मा 'ज्ञेय क्या है' इसका विचार नहीं करता; क्योंकि वह स्वयं वोधस्वरूप है। 'षाड्गुण्य-विवेक'का कथन है कि 'बोध विचित्र पदार्थोंके निर्माणके लिए किसी दूसरे सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वयं संकल्पसे ही सहस्रों रूपोंकी सृष्टि कर लेता है।

किसी-किसीका ऐसा कहना है कि आत्मामें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आदि किसी दूसरे परतत्त्वसे आते हैं, वे वस्तुतः आत्माको अनीश्वर ही मानते हैं। 'आगम-रहस्य'का वचन है कि 'जो ईश्वरकी क्रियाको किसी सहकारी कारणसे की हुई मानते हैं, उन्होंने ईश्वरताको ही तिलाञ्जलि दे दी। वे तो ऐसा कहते हैं, मानो परस्त्रीके अधीन पुरुषका नाम कामीश्वर रख दिया गया हो।'

इस सहज धर्मकी स्थिरताके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन्।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः॥ ११॥

जो शुद्ध आत्मस्वभावको अर्थात् अधिष्ठातृभावसे अपनेको स्वयंप्रकाश चिद्रूपसे सर्वव्यापक रूपमें देखता है वह मुस्कराता हुआ, विस्मयाविष्ट-सा, खिलते हुए फूल-सा रहता है। अविद्याका विलय हो जानेके कारण उसके लिए यह क्षुब्ध संसार कहाँ है? यह योगकी एक ऊँची भूमिका है। इसकी दृष्टि द्रष्टारूपसे सबका अनुभव है। 'इष्टोपदेश'में कहा गया है: 'बेटा! तुम्हारी दृष्टिसे यह जो कुछ दीख रहा है, उसका आग्रह छोड़ दो। जिससे देखते हो, उसको देखो। उसको देख लेनेपर सब कुछ देख लोगे।'[1]

---

१. यदिदं दृश्यते दृष्ट्या ग्रहं पुत्राऽत्र सन्त्यज।
येन पश्यसि तं पश्य यं दृष्ट्वा पश्यसेऽखिलम्॥

ऐसी स्थितिमें विकल्पकी कारीगरीके अधीन होकर कुमार्गमें चलना नहीं होता, सदा अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। वही सत्य-संकल्प ईश्वर है। अभ्यास और भावनासे सारे दुःख मिट जाते हैं। रसायन आस्वादनके बिना केवल ज्ञानमात्रसे भी सिद्धि देता है। "वैसे तो प्रभो! आपको चरवाहे, बच्चे और स्त्रियाँ भी जानती हैं, परन्तु साधन या युक्तिके न होनेसे आप उन्हें मुक्त नहीं करते। गायमें स्थित दूध भूख-प्यास नहीं मिटाता। पान करनेपर ही वह दूध भूख-प्यास मिटाता है।"

जो लोग अभाव-चिन्तनका उपदेश करते हैं शून्यवादी, उनका खण्डन करनेके लिए आगेकी दो कारिकाएँ हैं—

नाऽभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता।
यतोऽभियोगसंस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः॥ १२॥
अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते॥ १३॥

अभाव शशशृंगके समान होता है। अतः अवस्तु होनेके कारण वह कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। अभाव एक मूढावस्था है, चेतन नहीं। अभियोग अर्थात् अभिलाषके सस्पर्शसे उसके अभावकी भावना हुई। वह बीत गयी। वह मेरी शून्यावस्था थी—ऐसा स्मरण होता है। कहा भी है: 'जिस भावके द्वारा अभाव बाधित होता है, वह 'है' या 'नहीं'। उसके अभावके बाधक भावका सद्भाव कौन काट सकता है? अतः वह है और चिन्मय है। उसीसे सबका अनुभव होता है, अभावका भी।'[1]

1. अभावो येन भावेन बाध्यतेऽस्ति न नास्ति स।।
तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते।
सोऽस्त्यतश्चिन्मयो भावो येन सर्वं विभाव्यते॥

यही कारण है कि अभावकी भावना कृत्रिम और अनित्य ही होती है। वह सुषुप्तावस्थाके समान है। यदि ऐसा न होता तो बादमें मूढावस्थाके समान उसका स्मरण न होता। उस अवस्थाके कारण ही सदा प्रकाशमान आत्मा स्मृतिका विषय बन जाती हैं। आत्मा देखकर ही तो स्मरण करती है। अतः वह चिद्रूप एवं नित्योदित है। यही कारण है—कि गुरुसे उपदेश प्राप्त करके आदरपूर्वक उसका विचार करना चाहिए।

अभीतक ऐसा लगता है, मानो, दो अवस्थाएँ हों : एक स्मर्ता और दूसरी स्मर्तव्य। इनमें कौन नित्य है और कौन अनित्य ? इसका विचार अगली कारिकामें करते हैं—

अवस्थायुगलं चाऽत्र कार्य-कर्तृत्वशब्दितम्।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्॥ १४॥

इस स्पन्दतत्त्वमें जो दो अवस्थाएँ हैं—कार्य-कर्त्ता, भोग्य-भोक्ता, या दृश्य-द्रष्टा। इन्हें वेद्य और वेदक भी कह सकते हैं। इनके अध्याससे जो कार्यता है वह क्षयिष्णु और उत्पत्ति-विनाश-युक्त है तथा जो शुद्ध कर्ता, भोक्ता द्रष्टा अर्थात् आवेदक हैं वह अक्षय है। वह निर्बाध, निरवधि चित्स्वरूप है।

अतएव—

कार्योन्मुखः प्रयत्नोऽयः केवलं सोऽत्र लुप्यते।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते॥ १५॥

यह बाह्यार्थ कार्यवर्ग जब क्षीण होने लगता है, तब कार्य-सम्पादनानुकूल बाह्येन्द्रियोंका व्यापाररूप प्रयत्न लुप्त हो जाता है। वह सिकुड़कर आत्मामें लीन हो जाता है, अतः नहीं दीखता। इन्द्रियाँ स्थगित हो गयीं तो प्रयत्नका सामर्थ्य कहाँ रहा ? लुप्त

होता है, प्रयत्न पर अज्ञानी मान बैठता है कि मैं ही नष्ट हो गया। वस्तुतः चिद्रूपका विनाश नहीं है। कहा भी है—'शरीरका' विनाश हो जानेपर भी विज्ञप्तिका विनाश नहीं होता। सूर्यकान्तमणिका अभाव हो जानेपर भी सूर्यकी कोई हानि नहीं होती।

ऐसा क्यों ?

न तु योऽन्तर्मुखो भावः सार्वज्ञादिगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलम्भनात्॥ १६॥

देश-कालादिसे परिच्छिन्न कार्यकी ही निवृत्ति होती है। अन्तर्मुख भाव जो बाहर नहीं फैलता है, स्वस्वरूपस्थ-स्वस्वभाव सर्वज्ञता आदि गुणोंका आश्रय है, उस भावकी निवृत्ति कभी नहीं होती। क्यों नहीं होती? इसलिए कि चिद्रूपके अतिरिक्त द्वितीयकी उपलब्धि नहीं होती। उसीकी सर्वत्र, सर्वदा उपलब्धि होती है। जैसा कि कहा है—'देश-काल-क्रिया एवं आकारोंसे परिच्छिन्न वस्तुओंमें आप ही अनवच्छिन्न रूपसे प्रकाशित हो रहे हैं; क्योंकि आप उनसे बाहर हैं।' यहाँ भी है कि सर्वज्ञता, ज्ञान आदिमें भेद नहीं है; क्योंकि चिद्रूप ज्ञानकी ही सब स्थितियाँ हैं। 'षाड्गुण्य-विवेक'में कहा गया है—'सभी गुणोंके आदि-अन्तमें ज्ञान ही होता है। केवल इसीसे तत्त्वका निश्चय हो जाता है। बल, वीर्य, ओज आदिकी शक्तियाँ धर्मरूपसे स्वीकार हैं।' 'कक्ष्यास्तोत्र'में बाह्यविमर्शसे शक्तिको अविद्या और ज्ञानको सर्वज्ञता कहा गया है। बल तृप्तिमूलक है और अनादि बोध तेज है, इसलिए बलका मूल बोध है। तेज प्रभाव है जो दूसरोंको झुका देता है। वह वेद्य होनेसे बोधका ही विलास है और वही जगत्को झुकाता है। यही ईश्वर है और इसकी स्वतन्त्रता ही ऐश्वर्य है। यह संविदात्मा सब कृत्योंमें स्वतन्त्र है। न किसीका नियोज्य है और न विघ्नवान्।

प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों दशामें यह ईश्वर ही है। यह अलुप्त शक्ति और अविनाशी है। इसका वीर्य यह है कि इसकी आत्मसत्ता कभी परिभ्रष्ट नहीं होती। यह कार्यमें अन्वित नहीं होता, स्वयं होता है। आभूषणमें स्वर्णकी अनुगति नहीं है, वह स्वर्ण ही है। स्वर्णका कण-कण स्वर्ण है।

उसकी उपलब्धि किसे होती है?

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु॥ १७॥

योगीको चिद्रूप आत्माकी निरन्तर उपलब्धि, अनुभूति होती है। योगी कैसा? जो सदा सावधान—जागता रहे। उपलब्धि कैसी? जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओंमें बनी रहे, निवृत्त न हो। वह कार्यदशामें भी निर्भ्रान्त है। कहा भी है—'ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें संवित् नहीं रहती। अतएव योगिगण चिद्घनस्वरूपकी ही उपासना करते हैं। यदि योगी पूर्ण प्रबुद्ध न हो तो भी कार्यके आदि-अन्तमें संवित्का अनुभव होता है। कार्यकी पहली अवस्था और अन्तिम अवस्था चिन्मय ही होती है। बीचमें कार्य संविद्रूप होनेपर भी अन्य रूपसे भासता है। इसका यह अभिप्राय भी हो सकता है कि आदि, अन्त, मध्य, जाग्रत्, स्वप्न सर्वत्र प्रबुद्ध योगीको संवित्की ही स्पष्ट उपलब्धि होती हैं।

वह परमात्मा योगीके लिए कहाँ और कैसे है? देखिए—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः॥ १८॥

चिद्रूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है और अत्यन्त उत्कृष्ट सामर्थ्यसे युक्त है। वह जाग्रत् और स्वप्नमें देदीप्यमान रहता है। उसकी

शक्ति ही ज्ञान और ज्ञेय—दोनों है। इसीसे दोनों अवस्थाओंमें दो प्रकारका कार्य करती हैं। दो तरहकी उपलब्ध होती है। इन दोनों अवस्थाओंसे अन्यत्र सुषुप्ति और तुरीय—दोनों अवस्थाओंमें वह चिन्मात्र ही रहता है; क्योंकि वहाँ ज्ञेय नहीं होता, ज्ञानस्वरूप ही रहता है।

प्रश्न यह है कि जब गुणस्पन्दादि अनेक पदार्थ स्थित हैं तब उसकी उपलब्धि कहाँ? इस शंका-कलंक-पंकका परिमार्जन किया जाता है—

गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः॥ १९॥

सत्त्व, रज, तम, ते तीन गुण और महान्, अहंकार आदिके जो स्पन्द हैं उन्हींके निष्यन्द अर्थात् प्रवाह हैं—सुख, दुःख, मोह आदिको तरंगें। वे सामान्य स्पन्दके अन्तर-लीन अनन्त विशेषोंका आलम्बन प्राप्त करके ही सत्तावान् होते हैं। अतएव तत्त्वज्ञ योगीके स्वरूपमें उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता। वे योगीके विरोधी नहीं, स्वरूपके विलास हैं। जैसे पुष्पकारस उसके स्वभावका आच्छादक नहीं है, वैसे स्पन्दके निःष्यन्द अरविन्दके मकरन्दके समान ही है। एक सिद्धका वचन है—'प्रकाशके महलमें प्रकाश्य वस्तु नहीं दीखती। अनन्त संविद्में संवेद्य भी संविद्रूप है।' 'मतंग-पारमेश्वर'में भी यही है—'शिवसे लेकर पृथिवीपर्यन्त यह जो विस्तीर्ण मार्ग है, वह चिद्वस्तुसे सिद्ध होता है और उसीसे जाना जाता है। गीतामें मायाको, 'दैवी' कहनेका यही अभिप्राय है।'

अज्ञके लिए तो—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि॥ २०॥

मूढ़ पुरुषके लिए ये ही स्पन्द-निःष्यन्द चित्स्वरूपके आच्छादक बन जाते हैं, क्योंकि वह मूढ़बुद्धि पुरुष अपनेको गुणात्मक ही देखता है, शुद्ध-बुद्ध नहीं। कहा भी है—'जैसे बालक स्वच्छ शीशेको अपने ही श्वासोंसे मलिन कर देता है, वैसे ही अज्ञानी अपने विकल्पोंसे विज्ञानको मलिन कर देता है। इसका फल यह होता है कि वे जन्म-मरणके संसारप्रवाहमें भेज देते हैं। उस प्रवाहमें अत्यन्त क्लेश है और उससे पार पाना कठिन है।' 'ज्ञानसम्बोध'में कहा गया है—'यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही आत्मशक्तिसे संचालित होते हैं, तथापि एक स्वतन्त्र है और दूसरा परतन्त्र। शुद्धबोध पुरुष विषमस्थलमें भी साक्षिवत् स्वतन्त्र रहता है। मन्दबोध पुरुष अन्धेके समान समस्थलमें भी परतन्त्र होता है।'

अब अज्ञानीके संसारसे पार जानेका उपाय बताते हैं—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

स्पन्दके निःष्यन्द अज्ञानीको सर्वदा पतित बनानेके लिए उद्यत रहते हैं। अतः अपने विकस्वर स्वभावसे स्पन्दतत्त्वका विवेक करनेके लिए सर्वदा उद्योग करते रहना चाहिए। इसीसे स्वरूपकी अभिव्यक्ति होती है। सचमुच अपना स्वरूप उद्योक्ता है, विकस्वर है, शिव है। शिवसूत्रोंमें उद्योगको ही 'शिव' कहा है। इसलिए जाग्रत्-अवस्था अर्थात् व्युत्थान-दशामें शीघ्र-से-शीघ्र उसे अपने स्वरूपका अधिगम हो जाता है। जो लगा रहता है, वह जागता रहता है। इसका विवेचन यों है—मैं हूँ शुद्धबोधैकस्वरूप। यह जगत् मेरा विस्तार है, विलास है, जृम्भा है, मुसकान है। क्या सुन्दर कहा है—'यह सब मेरा वैभव है। ऐसा ज्ञान हो जानेपर वह विश्वात्मा हो जाता है और विकल्पोंके विस्तारमें भी वह महेश्वर ही रहता है।'

पञ्चरात्रमें कहा गया है—'जब आत्मामें सर्वभूतोंको देखता है और अपनेको उनमें देखता है तथा उनसे अपनेको पृथक् देखता है, तब जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है।' दूसरे स्थानपर भी ऐसा ही कहा है—'अजी! तुम निर्मल, अनन्त, एकमात्र बोधस्वरूप हो। भव्यबुद्धि सावधान पुरुष तुम्हें ज्ञाता और ज्ञेय—दोनोंमें ही देख लेता है।' 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि'में यह वचन है—'विवेकके द्वारा विशाल मोहान्धकारका विदलन हो जानेपर योगीके स्वरूपका उदय हो जाता है। अनात्मभावका तिरस्कार हो जानेके कारण वह प्रत्येक दशामें अपने परमानन्दस्वरूपमें मग्न रहता है। वह द्रष्टा-दृश्यके विवेकका रहस्य समझ गया। संसारका ऐसा कोई क्षण-कण और कोण नहीं है, जहाँ वह नहीं है। भवरोग मिट गया। उसके व्युत्थानमें भी समाधि है। सच्ची मोक्ष-लक्ष्मी तो उसकी पुत्री है।'[1]

जाग्रत्-दशामें ही स्वभावका स्फुरण हो जाता है—यह बात अज्ञानियोंकी समझमें नहीं आती। इसलिए अब उन अवस्थाओंका वर्णन करते हैं जिनमें स्पन्द स्पष्ट परिलक्षित होता है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किंकरोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥ २२॥

द्वेषसे अमर्ष उद्दीप्त होनेपर अत्यन्त क्रुद्ध मनुष्य पहले जिस अवस्थापर पहुँचता है, उसकी चित्तवृत्ति जिस स्फार या उन्मुखता-

---

१. इत्थं तत्तदनल्प - मोहदलन - प्राप्तस्वरूपोदयो
योगी नित्यमनात्मभावविरहात् स्वात्मस्थितौ निर्वृतः।
दृश्य-द्रष्टृविवेकविद्भ्रवपदव्यापी विमुक्तामयो
व्युत्थानेऽपि समाधिभाग् भवति सन्मोक्षश्रियः कारणम्॥

का स्पर्श करने लगती है; शुचिरागत प्रियव्यक्तिके दर्शन आदिसे हर्ष प्राप्त करके जिस परमानन्दको ग्रहण करता है; अनेक कर्तव्योंके कल्लोलमें फँसकर, 'यह करूँ अथवा वह करूँ' इस प्रकार परामर्श करके जब निश्चयकारिणी दशामें आता है; अपनी प्रेयसीके बुलानेपर अथवा संभ्रमवश दौड़कर जिस अवस्थापर आरूढ़ होता है; उसमें आत्मस्वभाव स्पन्द स्पष्ट उपलब्ध होता है। जब जहाँ, जिस अवस्थामें सब शक्तियोंका लय हो जाता है, वहाँ स्पन्दतत्त्वका स्पष्ट उदय देखनेमें आता है। इसका कारण यह है कि क्रोधसे सारी दुःखभूमियाँ प्रकट हो जाती हैं और हर्षसे सारी सुख-भूमियाँ। 'क्या करूँ ?', 'क्या न करूँ ?' इससे मोहजन्य सारी इन्द्रियवृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं। इसीसे 'विज्ञान-भैरव'में कहा गया है— 'क्रोधादिके अन्तमें, भयमें, शोकमें, शून्य अरण्यमें, किसी कामकी प्रवृत्तिको एकाएक रोक देनेपर, घनघोर संग्राममें, कुतूहलमें, क्षुधा-पिपासाका अन्त होनेपर ब्रह्मसत्ता सर्वथा निकट रहती है, पहचानी नहीं जाती।' 'रहस्य-स्तोत्र'में कहा गया है कि 'क्रोध एवं हर्षकी विवशताकी पराकाष्ठामें, कर्तव्याकर्तव्यके विमर्शमें, एक भावका स्पर्श होनेसे पूर्व जो दशा रहती है, वहाँ स्पन्द अपने अन्दर बलका संचार करता रहता है। इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रुटिमात्र कालमें सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ताका स्पर्श होने लगता है (सुईसे कमलकी एक पंखुड़ी छेदनेमें जितना समय लगता है उसको त्रुटि कहते हैं) एक त्रुटिके लिए मनुष्यमें सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता, सर्वेश्वरका उदय हो जाता है। गुरुके उपदेशसे आदरपूर्वक इन सिद्धान्तोंकी आप परीक्षा कर सकते हैं।

अब इसी स्पन्दतत्त्वके जीवनमें उदय होनेके लिए उपायका निर्देश करते हैं—

यामवस्थां समालम्ब्य यदाऽयं मम वक्ष्यति।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥ २३ ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोम-सूर्यावुभावपि।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ २४ ॥
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशि-भास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ २५ ॥

'ये हैं हमारे गुरुदेव ! ज्ञानियोंके शिरोमणि ! ये अनिर्वचनीय सद्वस्तुका भी निर्वचन कर सकते हैं। इनकी आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। ये जो कुछ मुझसे कहेंगे, मैं अवश्य वही करूंगा'—यह दृढ़संकल्प धारण करके साधक जब उन्मुखतारूप वृत्तिका आलम्बन लेकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी उस अवस्थामें ऊर्ध्वमार्गसे विषुवत्-प्रवाहके द्वारा सोम, सूर्य, अपान, प्राण, मन-प्राण, सुषुम्नाके मार्गमें, जो कि पर शक्तिका मार्ग मध्यम नाड़ी है, विलीन हो जाते हैं। पता नहीं, गुरुदेव क्या आज्ञा देंगे ? यह कुतूहल वासनाओंको पीस डालता है। उस समय साधक ब्रह्माण्डस्थित शरीर-विषयका परित्याग करके 'देहाहंभाव'से मुक्त हो जाता है। कहा भी है—'देहमें अहंप्रत्ययका द्वीप भग्न हो गया। अनंत संवित्रूप निर्मल समुद्रसे एकता हो गयी। इन्द्रिय-समूह अन्तर्मुख हो गया। बस, तुम एक अद्वितीय विश्वात्मा हो।' ऐसी अवस्थामें महाव्योम अर्थात् परचिदाकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, ज्ञान और क्रिया—दोनों शान्त हो जाते हैं। स्वभावमें अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वप्न, जाग्रत् आदिके दृश्योंसे मोह नहीं होता। वह प्रबुद्ध और अनिरूद्ध हो जाता है, मानो सुषुप्ति हो। किन्तु उस समय वह प्रबुद्ध और आवरणरहित ही होता है।

'रहस्य-स्तोत्र'में कहा है—'बड़े-बड़े आकाशगामी सिद्धपुरुष

भी, जिन्होंने अपनी आत्मसंवित्‌में सूर्य-सोम अर्थात् ज्ञान-क्रियाको लीन कर लिया है, व्योम-मार्गका उल्लंघन कर चुके हैं और अपनी दृष्टिमें भावनाका अंजन लगाये हुए हैं, उनमें भी किसी-किसीको तुम्हारे स्वरूपका दर्शन होता है।' 'निरंजन-तत्त्वोदय'में प्राणापानकी प्रशान्तिको ही आत्मदर्शनकी युक्ति बतलाया गया है। 'भोग-मोक्ष-प्रदीपिका'में भी कहा है—'हृदयमें सोम-सूर्यके संचारसे कामसिद्धि होती है और उनकी शान्तिसे निरंजन-तत्त्व की। यही शास्त्रका सर्वस्व है। इसी अवस्थामें सहज मन्त्रका उदय होता है।' 'बौद्धायन-संहिता'का वचन है—'चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्यका उदय न हो, उस समय सब देवताओं (इन्द्रियों) का विलय और सब मन्त्रोंका उदय होता है।' 'मालिनी-विजय'का भी यही मत है—'जिस अवस्थामें जीव अन्याधार विनिर्मुक्त होकर स्वरूपमें लीन होता है, वही सम्पूर्ण मन्त्रोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र (स्थान) है।' और भी 'जब पुरुषका चित्त धर्माधर्मके सन्धिस्थलमें निरुद्ध हो जाता है तब वह जो बोलता है वही मन्त्र हो जाता है। स्वरवर्ण-मातृकासे बनाये मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते।'

अतएव—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः॥ २६॥

मन्त्रमें चार बातें मुख्य होती हैं—बीज, पिण्ड, पद और नाम। उनका धर्म है—मनन और त्राण। उनका बल है—निरावरण चित्‌का उल्लास अर्थात् पराशक्ति। उसी शक्तिको लेकर मन्त्र सहज नादशक्तिसे उद्‌बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं। उनसे सर्वज्ञता आदिका बल आ जाता है। जब सिद्धमन्त्री उनका प्रयोग करता

है, तब वे अनुग्रह और निग्रह करनेमें समर्थ होते हैं। जैसे एक शरीरधारी अपने कर-चरणोंका प्रयोग करता है, ठीक वैसे ही आत्माके परतत्वका अवबोध होनेके कारण मन्त्रज्ञ इच्छामात्रसे मन्त्रोंका यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। 'त्रिकसार'में कहा है—'वर्णातीत निराकार परम तत्त्वका बोध हो जानेपर मन्त्र मन्त्राधिपोंके साथ किंकर हो जाते हैं, अर्थात् वशीभूत हो जाते हैं।' यदि ऐसा नहीं है तो बड़े प्रयत्नसे प्रयोग करनेपर भी वे कठपुतलीके समान निष्फल-चेष्ट ही रहते हैं; क्योंकि सत्यसंकल्प चिच्छक्तिके बलका स्पर्श न होनेके कारण वे केवल वर्ण-मात्रा अर्थात् जड़ अक्षर ही रहते हैं।

'हंस-पारमेश्वर'में कहा है—'केवल वर्णरूप मन्त्र पशुभावमें स्थित हैं। सुषुम्नामार्गसे उच्चारण करनेपर वे पशुपति हो जाते हैं।' वस्तुतः शाक्त-मार्गमें ही मन्त्रोंकी सफलता है। 'तत्त्वरक्षा-विधान' में कहा गया है—'आत्मसंवित् अथवा परमपदमें मन्त्रका प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि वह शक्ति और क्रियासे रहित है। शक्तिके विषयमें ही मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए। वही जप सफल होता है।' 'श्रीवैहायसो' में कहा है—'सन्धिस्थलमें नादोर्ध्वध्वनिसे बोधित जप करना चाहिए जैसे, सूत्रमें मणि गुथे हुए होते हैं, वैसे हो शक्तिके ताने-बानेसे बने हुए मन्त्राक्षरोंका ध्यान करना चाहिए। वह शक्ति परम व्योममें रहती है और परमामृतसे समृद्ध है। उक्त रीतिसे जप करनेपर मन्त्र अपने स्वरूपको प्रकट कर देता है, अपनेको आवृत नहीं रखता।' 'श्रीकालपरा'में वचन है—'शब्द नादात्मक हैं, अतः उसके साथ प्रत्यय, संवित् संलग्न रहकर बढ़ाती रहती है। मन्त्रबोधके स्वरूप-में स्थित संवित् अभिन्न है अतः वह आत्मबोध भी करा देती है।'

'संकर्षण-सूत्र'में वचन है कि 'चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है। भाव एवं अभाव उसकी दशाएँ हैं, परिष्कार हैं। वह स्वसंवेदन संवेद्य है। प्रकृतिसे अतीत भी वही, प्रकृतिका विषय भी वही। यही मन्त्रोंका प्रत्ययात्मक कारण है। यन्त्र बाहर और भीतर वर्णरूपसे प्रकट होते हैं। वे शाश्वत पदरूप होते हैं। वे मनुष्यके कर-चरणादिके समान हैं। वीर्यका योग होनेपर किसी भी कालमें प्रयोग करनेपर वे सिद्ध होते हैं।' जब शुद्ध बोधात्मक रूपसे अन्तर्बाह्य दोनोंमें उदित मन्त्रका एकबार भी जप किया जाता है, वह लक्ष बार किये हुए जपके समान है। 'जयसंहिता'में कहा है—'एक ही मन्त्रनाथ अन्तर और बाह्य—दोनोंमें उदित होकर एक हो जाता है तब उस जपको लक्षसंख्यासे भी अधिक समझना चाहिए।

इस प्रसंगमें युक्तिसे मन्त्रशक्तिका निरूपण किया गया और उसका प्रथम उदय भी बतलाया गया। अब उसका विलय बताते हैं—

> तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
> सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥ २७ ॥

ये मन्त्र साधकचित्तकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके निमित्तसे अर्थात् उसकी आधारभूत इच्छासे फिर लीन हो जाते हैं—उसी शक्तिमान् स्वस्वभावमें। क्योंकि ये स्वस्वभावके अनुगामी और शक्तिरूप हैं। यही बात 'कालपरा' में कही गयी है। पर अक्षररूप वृक्षमें अनेक शक्तियाँ हैं। उनके विवर्त शक्तिके रूपमें वर्णोंमें प्रकट होते हैं। मुखके सम्बन्धसे उन्हें वरण करते हैं। वे शक्तियाँ कृतकृत्य होनेके कारण स्वयं शान्त हैं और निरञ्जन अर्थात् कालुष्यरहित हैं। अथवा निरञ्जनतत्त्वसे अनुप्राणित है। यही कारण है जो

शिवशंकरमें धर्म हैं वे ही मन्त्रमें भी, अर्थात् मन्त्र भी सर्वज्ञ और सर्वकर्ता हैं।

साधक-चित्तमें मन्त्र लीन हो जाते हैं, यह कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मा ही शिव है। अब इसको सयुक्तिक सुनिये—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ १८ ॥
तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ १९ ॥

यह जीव-आत्मा ही सर्वमय, सर्वात्मक विश्वरूप है; क्योंकि यह बोद्धा है। कहा भी है—'तत्वज्ञान होते ही सब चिन्मय हो जाता है। वेद्यका ऐसा कोई भाग नहीं है जो वेदकसे बाहर हो। वेद्य वेदक है। वेदक संवित् है। संवित् आत्मा है।' तब तो सबसे बड़ा यथार्थ यही है कि आत्मा ही जगत् है। छान्दोग्य-श्रुतिमें स्पष्ट कहा है—'इदम्‌के रूपमें प्रतीयमान यह सब जगत् आत्मा ही है। आत्मामें नानात्व किञ्चित् भी नहीं है।'

एक और बातपर भी विचार कीजिये। सर्वभावोंका समुद्भव आत्मासे ही होता है। संविद्‌के आरोहणसे ही परा, पश्यन्ती आदि वाणियोंका उदय होता है और सत्ता सिद्ध होती है। प्राचीन आचार्योंका वचन है—'जान लिया, सबके कारण तुम्हीं हो; क्योंकि घटमें मृत्तिकाके समान सबमें तुम्हारा अन्वय है। जब संवित्‌के बिना विश्वकी सिद्धि ही नहीं होती, सम्पूर्ण विश्व संविद्-समन्वित ही है, तो असंवित् कारण कैसे हो सकती है? संवित् ही सत् है, सत् ही संवित् है। संवित्‌की उपासना किये बिना वही सर्व-सत् हैं—यह अनुभव नहीं हो सकता।' और भी—'सभी भाव तुम्हारे

ही स्वरूप हैं, इसमें किसीका विवाद नहीं है; क्योंकि सब प्रकाशित होते हैं। क्या कहीं अप्रकाश भी प्रकाशित होता है?' और भी—'तुम प्रकाशक एक हो। सर्जन, भाषण और बोधन—ये तीनों तुम्हारे प्रकाश हैं। तुम अन्य प्रकाशोंसे व्यतिरिक्त हो, जैसे दूसरे प्रकाशक सूर्यादि। परन्तु तुम्हारे प्रकाशके उदयके बिना कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता। श्रुति, पञ्चरात्र भी तो यही कहते हैं कि वहाँ सूर्य-चन्द्रादिका प्रकाश नहीं है। उसीके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है।

संवित् सर्वमय है—इसका एक दूसरा कारण बताते हैं। जितने संवेद्य हैं, वे संवेदनरूप अनुभवके द्वारा ही संविदित होते हैं। उनसे तादात्म्य होता है, तद्भावरूपता होती है और अभेदका संवेदन होता है। 'स्वात्म-सप्तति'में कहा गया है—सभी वस्तुएँ ज्ञान-स्वभावका ही विषय होती हैं और उसके साथ तादात्म्यको प्राप्त हो जाती हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है, अतः वह सर्वमय है।' 'संविद्-प्रकरण'में कहा गया है—'अग्निसे समाविष्ट सब अग्निरूप ही दीखता है, वैसे ही ज्ञानसे समाविष्ट सब ज्ञानरूप ही देखिए। 'आगम-रहस्य'का वचन है—ज्ञानसे आकारवर्ग भासता है, इसलिए यह विश्वमयी विभूति ज्ञान ही है। तुम्हीं विश्वात्मक हो, यह केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं है, आत्मसंवित्से संविदित होनेके कारण अनुभवसिद्ध भी है।'

संविद् ही प्राणद्वारा वाग्रूप धारण करती है। वही वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परारूप है। इन चारों वाणियोंका वक्ता निर्विशेष परमस्थायी और नित्योदित निजाकृति है। सूर्यके समान तेजका विस्तार करता हुआ वह हृदयमें प्रकाशित होता है और चिदिच्छा-शक्तिसे संबुद्ध है और आत्मबल ही उसका बल है।

'प्रत्यभिज्ञा'का वचन है—'प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही सरस परावाक् है। परमात्माका यह स्वातन्त्र्य ही मुख्य ऐश्वर्य है। वह सर्वदेश-कालमें स्फुरती हुई महासत्ता सबका आधार है और परमेश्वरका हृदय है।' उसीका रूप है—अन्त:संकल्प। उसमें शब्द और अर्थ—दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं। इसलिए दोनोंका अभेद ही प्रसिद्ध है। ग्रन्थकारने ही कहा है—'शब्दानुवेधके बिना प्रत्ययका उदय नहीं होता।' यह पहले ही कह चुके हैं कि वाक्‌का मूल संवित् है। और भी—'जैसे निजात्मा संवित्से सम्पूर्ण जगत् अनुविद्ध है, वैसे ही संवित्से सम्पूर्ण वाणी अनुविद्ध है।'

योगिनाथने भी कहा है—'परतत्त्वमें किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिए वाणीको स्वीकार करना पड़ता है; क्योंकि रूपके अनुसन्धानसे वस्तुका निश्चय होता है। उसकी उन्मुख वृत्तिसे ही वस्तुके सद्भावकी कल्पना होती है। उसके बिना किसीको आत्मलाभ नहीं हो सकता; क्योंकि उस अवस्थामें केवल स्वरूप-ज्योति रहती है। वहाँ विभाग और क्रमकी अपेक्षा नहीं होती। उसका रूप योगिगम्य होता हैं। उसी उन्मुखतासे चिन्तनमयी वाग्धारा बनती है। तदनन्तर विशिष्ट शब्दके विषयकी स्फुरणात्मिक विवक्षा होती है। इसके बाद वह शब्दका रूप धारण करके अर्थको प्रकट करती है। इसलिए संवित्प्रसूत वाणीके बिना किसी अर्थका अवधारण नहीं हो सकता।' इस प्रकार सर्वप्रकाशक संवित्स्वरूपकी प्रभाके समान प्रकाशनशक्ति अन्तस्संकल्परूपा वाणी बनकर फिर वर्ण, पद, वाक्यको जीवन-दान करती है और पदार्थके रूपमें बाहर दीखती है। यह प्रबुद्धोंके लिए स्वानुभवसिद्ध है। कहा भी है—'चिदात्मा देव अपने अन्त:स्थित अर्थको स्वेच्छासे बाहर प्रकाशित करता है ठीक वैसे ही, जैसे योगी बिना उपादानके ही वस्तुको

प्रकट करता है। अन्तस्थ भावोंका जो स्वामी है, वही उन्हें प्रकाशित करता है; बिना उसकी इच्छा, अमर्श कुछ भी प्रवृत्त नहीं हो सकते।' और भी—'जो कुछ बाहर दीख रहा है वह सब तुम्हारे ही अन्दर है। आँख बन्द करके जैसे सब कुछ भीतर देखा जा सकता है, वैसे ही यह सारा प्रपंच है।'

इस प्रकार स्वभाव ही सर्वरूपमें स्थित है। इस सर्वात्मक स्वभावके कारण शब्द और अर्थकी चिन्ता करनेपर ऐसी कोई अवस्था नहीं मिलती जो शिवस्वभावको प्रकट न करती हो, अर्थात् चित्स्वरूप न हो। संविद्में सब एक है, उसीमें सबका अस्तित्व है। कहा भी है—'जिन-जिन कारणोंसे भाव-नदियाँ अलग-अलग बहती हैं, उन्हीं-उन्हीं कारणोंसे बोध-समुद्रमें एक हो जाती है।' ग्रन्थकारने पहले ही कह दिया है कि शारीरिक, शाब्दिक या मानसिक ऐसा कोई व्यवहार नहीं है, जिसके प्रारम्भमें आप विराजमान न हों। अतः ठीक ही कहा गया है कि संविदात्मा भोक्ता अर्थात् अनुभविता ही भोग्य-भावसे अनुभाव्यके रूपमें सर्वदा और सर्वत्र स्थित है। उससे अलग भोग्य-नामका कोई पदार्थ नहीं है। आइये, श्रुतिका गान करें—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।

अन्न भी मैं, उसका भोक्ता भी मैं। 'तत्त्वविचार'में देखिए—'स्वभावस्थित भाव ही परस्पर भोक्ता और भोग्यके रूपमें सम्बद्ध होते हैं। उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। ज्ञानके ही ये नाम हैं—द्रष्टा, अनुभविता, स्मर्ता, ग्राहक, भोक्ता, वेदक, कर्ता, उपलब्धा, संवेत्ता और ज्ञाता।' इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ही ज्ञेयके रूपमें चमकता है, फैलता है। कहा भी है—'आपसे भिन्न जो भाव दिखायी पड़ते हैं, वे हैं तो अपने आत्मा ही, परन्तु मुग्ध-

तावश अन्य भोग्यके रूपमें मालूम पड़ते हैं। मूर्खजन पशुके समान उसके भोगके लिए संसारमें भटकते हैं। जो इन दृश्य भावोंको आपके वैभवके रूपमें देखते हैं, वे आपके समान ही प्रभु हो जाते हैं और विश्वको अपने वशमें कर सकते हैं।' 'ज्ञानसम्बोध'में वचन है—'ज्ञान ही तीन रूपोंमें स्थित है—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान। **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः** गीताका यह वचन सर्वथा यथार्थ है।' उत्पलाचार्य कहते हैं—'द्रष्टा ही है। अज्ञानिजन इस दृश्यको अध्यात्मरूपसे नहीं देखते। शीशेमें प्रतिबिम्बके समान यह जगत् द्रष्टा और दृश्यके रूपमें दो प्रकारसे भास रहा है। बोधानुवेधसे ही घट-पटादि बाह्य सद्भाव प्राप्त करते हैं, अतः ज्ञानाद्वैत ही सत्य है। कहीं भी ज्ञेयकी सत्ता नहीं है।

'आत्म-सप्तति'में कहा गया है कि 'यह जो कुछ दीख रहा है, वह दर्शनसे भिन्न नहीं है। दर्शन द्रष्टासे भिन्न नहीं है, अतः द्रष्टा ही जगत् है।' 'संकर्षणसूत्र'में भी—'जिससे यह विश्व दीखता है, जो सारे विश्वका द्रष्टा और जो चराचर रूपमें दृश्य हो रहा है, उसीका नाम विष्णु है।' 'जाबालिसूत्र'में भी—'द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, जिसके चैतन्यस्वभावका कभी लोप नहीं होता, वही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयका एकमात्र कारण है—भगवान् वासुदेव अर्थात् आत्मा।' 'पंचरात्र-उपनिषद्'में देखिए—'ज्ञाता-ज्ञेय, वक्ता-वाच्य, भोक्ता-भोग्य सब वही है।' इसी ग्रन्थमें कहा है—सर्वान्तर, सर्वबाह्य, स्वयंज्योति, स्वसंबोध्य

---

१. द्रष्टैवास्ति न दृश्यमेतदबुधैरध्यात्मना ज्ञायते
आदर्शप्रतिबिम्बवज्जगदिदं भिन्नं द्विधा भाति यत्।
सत्तां यान्ति घटादयो बहिरमी बोधानुवेधात् सदा
ज्ञानाद्वैतमतः स्वतोऽस्ति न पुनर्ज्ञेयस्य सत्ता क्वचित्॥

और स्वयंभू वही है।' श्रुति भी कहती है—'वही ज्ञाता, वही ज्ञान।' वही मन्त्रात्मा है, अतः मन्त्र भी शिवरूप ही हैं।

प्रशंसा करके इसकी स्वीकृतिका उपाय बतलाते हैं—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३० ॥

इस श्लोकमें 'वा' शब्दका प्रयोग स्वार्थमें ही है। अभिप्राय यह कि बहुत कहाँतक कहें—ऐसा ज्ञान जिसको हो गया है वह पुरुष अर्थात् जिसको सब अपना स्वरूप ही अनुभव होता है—मन्मय ही दीखता है; वह समग्र जगत्को अपना क्रीडाराम, खेलनेका बगीचा देखता है; क्योंकि वह नित्ययुक्त, नित्यमुक्त है। बन्धकारण अज्ञान मिट गया और प्रबोधकी प्राप्तिसे वह जीवित ही ईश्वरवत् मुक्त है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उपपत्ति और उपलब्धिके द्वारा यह सिद्ध है, अतः इसमें भ्रान्ति नहीं करनी चाहिए। कहा भी है—आत्मबोध सम्यक् विश्रान्ति हो जानेपर जो अलुप्तानुभव स्थित है वह तत्त्ववित् पुरुष विषयभोग करता हुआ भी जीवन्मुक्त है।

जिन लोगोंका ऐसा कहना है कि उत्क्रान्तिके बिना मोक्ष नहीं होता, उनका पक्ष ठीक नहीं है। इसके लिए कहते हैं—यदि स्वभावका अनुभव हुए बिना ही केवल उत्क्रान्तिके बलसे पुरुषको कैवल्यकी प्राप्ति हो जाय तो जो मूर्ख फाँसीपर टँगकर मरता है, उसको भी मोक्ष प्राप्त हो जाय। कहा भी है—'गुणवासनावासित पुरुष भी प्रलयकालमें विदेह होनेपर भी बद्ध ही रहते हैं। विशुद्ध ज्ञानके आश्रयसे शरीरधारी भी मुक्त हो जाते हैं।' 'ज्ञानगर्भ'में कहा है—हे 'त्रिलोकीनाथ! जो मनुष्य आपकी उपासना करके

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान् हृदि स्थितान्।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ॥ ३३ ॥
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात्।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितवद् यं प्रकाशयेत् ॥ ३४ ॥

जैसे आत्मस्वभावरूप स्रष्टा जाग्रत्-अवस्थामें अपनी इच्छासे ही प्रेरित होकर हृद्देशस्थ अभिमत अर्थका सम्पादन करता है स्वबलके आश्रयसे। भला, यह कैसे ? सोम-सूर्य, अपान-प्राण और नेत्रोंको उदित करके अवधानपूर्वक इच्छित पदार्थको ही देखता है। अभिप्राय यह है कि मनुष्यके सामने असंख्य वस्तुएँ रहती हैं—गणिका. नट, मल्ल, दर्शक आदि। उनमें-से वह जिस वस्तुको देखना चाहता है उसीको देखता है, क्योंकि उसीमें स्वरूपका अनुप्रवेश होता है। ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी अपने स्वभावमें स्थित रहकर हृदयमें अभीष्ट पदार्थोंको ही स्पष्ट करके देखता है; क्योंकि आत्मसंवित् इच्छाका अतिक्रमण नहीं करती। प्राचीन वचन है—'दृढ़ अभीष्ट-विषयक इच्छाको छोड़कर दूसरी वृत्ति नहीं होती।' यह कहना चाहते हैं कि इच्छानुगामी ही पदार्थ सृष्टिमें होता है, स्वतन्त्रतया किसी पदार्थका उदय नहीं होता। पदार्थ इच्छाका अतिक्रमण नहीं कर सकता। 'रहस्य-स्तोत्र'में कहा है—'बुद्धि विस्मृत पदार्थका स्मरण करके अशेषविन् आत्माके सम्मुख रख देती है। बुद्धि जो-जो रसपूर्वक अभ्यर्थना करती है, आत्मसंवित् स्वप्नमें भी उसका उल्लंघन नहीं करती।' सिद्धकी वाणी है—'चिदाकाशमें स्थित होकर जो अनुसन्धान करता है वह अखण्डित ही देखता है।' 'ज्योतिःशास्त्र'में भी कहा गया है—'मनुष्य जिस-जिस इन्द्रियार्थसे अनुविद्ध होकर शयन करता है, स्वप्नावस्थामें उन्हीं-उन्हीं पदार्थोंके कर्म देखता है।'

अब तक स्वप्न-स्वातन्त्र्यके वर्णनके द्वारा युक्तिसे सुषुप्तिकालीन आवरणतमकी कल्पनाका निषेध किया। अब यह कह रहे हैं कि स्वस्थ स्वरूपस्थ पुरुष ही जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंमें स्वातन्त्र्य-लाभ करता है। स्वरूपस्थित हुए बिना स्वातन्त्र्य-लाभ नहीं होता।

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ३५ ॥

स्वरूपस्थिति न होनेपर चित्तकी चंचलताके कारण इच्छारूप स्वप्नादि सृष्टि स्वतन्त्र हो जायगी। स्वतन्त्र होनेका अर्थ है कि असमंजस—असंगत ही दिखायी पड़ेगी; क्योंकि सृष्टिका स्वभाव ही ऐसा है। तत्त्वका स्वभाव ही है—इच्छाओंको फैलाना। जैसे अज्ञानी पुरुषकी इच्छाएँ जाग्रत् एवं स्वप्न—दोनोंमें 'ही स्वतन्त्र चलती रहती हैं, वे अज्ञानजन्य नहीं हैं, संविद्का स्वभाव ही है और वे सहस्रों होती हैं। उनका स्वरूप है—सम्बद्ध एवं असम्बद्ध विकल्प। परन्तु ज्ञानीकी स्वाधीन होती हैं और अज्ञानीकी उच्छृङ्खल।

आत्माकी विभूतियोंमें स्वातन्त्र्यकी युक्तिका निरूपण करके अब ज्ञातृत्व और कर्तृत्वके सामर्थ्यकी युक्ति बतलाते हैं। उनमें-से सूक्ष्म और व्यवहित आदिमें ज्ञातृत्वकी युक्ति सूचित करते हैं—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ३६ ॥
तथा यत् परमार्थेन येन यत्र यदा स्थितम्।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

जैसे दूरस्थित घट-पटादि कोई पदार्थ अस्पष्ट-संदिग्ध दिखायी पड़ता है, परन्तु चित्तको सावधान करके दूसरी ओरसे हटाकर अपने

प्रयत्न-विशेषसे विचार करनेपर स्पष्ट एवं असंदिग्ध भासने लगता है, वैसे ही जो वस्तु जिस रूपसे, जिस स्थानमें, जिस समय दिखायी पड़ती है प्रयत्न-विशेषसे, विकसित संवित्से देखनेपर वही भलीभाँति स्पष्ट, असंदिग्ध और अपने निश्चित रूपमें दीखने लगती है; क्योंकि स्वरूपमें कोई आवरण नहीं रहता। पहले हीं कहा जा चुका है कि आत्मबलके स्पर्शसे पुरुष सामनेवाले पदार्थके समान ही हो जाता है, इसलिए यथार्थ ज्ञान होता है। (इसीसे मिलता-जुलता अद्वैत वेदान्तियोंका अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाताका विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक होनेपर यथार्थ ज्ञान होना है, उसमें बलका स्पर्श नहीं है।)

'तत्त्वयुक्ति'में कहा गया है कि 'जो विषयाधिपति है, वह जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, उसको तत्त्वतः अर्थात् आत्म-संवित्के रूपमें जान लेनेपर चराचरका ज्ञान हो जाता है।' यही कारण है कि छोटे-छोटे विषयोंका भूतकालिक या भविष्यकालिक ज्ञान प्राप्त कर लेना कोई आश्चर्य नहीं है।

इस प्रकार ज्ञानशक्तिका निरूपण करके अब कार्यकर्तृत्वके सामर्थ्यका वर्णन करते हैं—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः॥ ३८॥

जो पुरुष क्षीणधातु, अशक्त, कृश एवं दुर्बल भी हो गया है वह भी अपने उत्साहात्मक बल, उद्योगको स्वीकार करके अपने कार्यमें प्रवृत्त होता है और उसे सम्पन्न करता है। निर्बल व्यक्ति भी उद्योग-बलका आलम्बन लेकर युद्धभूमिमें अपने अपूर्व शौर्यका परिचय देता है। असमर्थ भी व्यायामाभ्याससे महती शक्ति प्राप्त

कर लेता है। यह उद्योग-बल आत्मसंवित्का ही वल है। भूखा मनुष्य अपने स्वभावका अनुशीलन करके बुभुक्षाको शान्त कर देता है। पतञ्जलिने योगदर्शनमें कण्ठकूपमें संयमको भूख-प्यास मिटानेका उपाय बतलाया है। संयमके बलपर मनुष्य हाथी-सरीखा बल प्राप्त कर सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मबलकी अभिव्यक्ति होनेपर शोक, मोह, जरा, मृत्यु आदि षड्र्मियोंका नाश हो जाता है।

इस प्रकार न केवल इस शरीरके सम्बन्धमें वह सर्वज्ञ हो जाता है, बल्कि सर्वत्र उसे सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है—

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रवं भविष्यति ॥ २९ ॥

स्व-स्वभावके द्वारा अपने इस शरीरपर अधिकार कर लेनेसे इसके विषयमें जैसे सर्वज्ञता आदि गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है, कोई नन्हा-सा कीड़ा छू जाय तो पता चल जाता है; वैसे ही अपने स्वरूप, स्वभावपर अधिकार कर लेनेपर सर्वत्र सब कुछका ज्ञान होना शक्य है। 'ज्ञान-सम्बोध'में कहा गया है—'सब कुछ वही है; क्योंकि व्यापक है। वह स्वभावसे ही सर्वज्ञ है। 'यह पुरुष सर्वज्ञ है' इसीसे सर्वज्ञता प्रस्फुरित होती है।' और भी—'यदि सबके हृदयमें विद्यमान तुम सर्वदा सर्वज्ञ न होते तो भला, नष्ट-पदार्थविषयक स्मृति किसीको कैसे होती? जन्म लेते ही बालक स्तनपानकी शिक्षा किससे प्राप्त करता है? छोटे-छोटे जन्तुओंको जलमें तैरना कौन सिखाता है? यह सब तुम्हारी सर्वज्ञताका ही उल्लास है।' और भी—'मधुमक्खी जब मधुसंचय करने लगती है तब उसको यह संवित् कैसे होती है कि मुझे किसका रस लेना चाहिए? किसका नहीं? और कौन स्वादु, कौन अस्वादु होगा?

यह आपका ही विलास नहीं तो और क्या है ? नन्हें-नन्हें कीड़े भी अपने भरण-पोषणकी आश्चर्यजनक व्यवस्था कर लेते हैं। अज्ञानी पशु हाथी अपने ऊपर जल फेंककर स्नान करता है, वह किसके ज्ञानका फल है ? भोले हिरनको संगीतकी पहचान कैसे होती है, जिससे वह अपना खाना-पीना भी भूल जाता है ? इस अनन्त संवित्का विलास हुए बिना चूहा बिलमें रहते हुए भी बिल्लीसे क्यों डरता है ? विवेकरहित कछुआ पानीके भीतर छिप जाता है और अपने सारे अङ्गोंको समेट लेता है—यह बुद्धि उसे कहाँसे प्राप्त होती है ? आत्मसंवित् ही तो मोरमें बैठकर नाच रही है। पक्षी अगाध जलमें कूदकर मछली पकड़नेका कौशल किससे सीखता है ? हंस नीरसे क्षीरको विवेक करनेकी संवित् किसमें प्राप्त करता है ? छोटे-से-छोटा प्राणी बोलकर अपनी भावना कैसे प्रकट करता है ? प्रातःकाल 'आज यह-यह काम करना है' ऐसा संकल्प कहाँसे उदय होता है ? मूर्ख पशुओंको अपने सींग, दाँत और पंजेसे दूसरोंपर प्रहार करनेकी विद्या किसने सिखायी है ? यदि भीतर अखण्ड संवित् स्पन्दित न होती तो हाथीको अपने बल और सिंहको अपने तेजका पता कैसे चलता ? पशु-पक्षियोंको भी अतिवृष्टि और अनावृष्टि, भूकम्प आदिकी पूर्वसूचना कहाँसे मिल जाती है ? यम-राजके समान भयंकर सिंह आदि प्राणियोंसे भी मनुष्यका प्रेम हो जाता है। बिना सबके हृदयमें एक संविद्की स्थिति हुए ऐसी मैत्री, मिलनसारी कहाँसे आती है ?'

युक्तियोंका निरूपण पहले कर चुके हैं। यह सब आत्मसंवित्की ही विशेष अभिव्यक्ति है। अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् सबके स्वरूपमें स्थिति। कभी स्वरूपसे च्युति नहीं होती। यही युक्ति है जिससे सर्वत्र सर्वज्ञता, सर्वता आदि अभिव्यक्त हो जाते हैं। कहा

भी है—'एक ही भाव सबका स्वभाव है। सभी भाव एक ही भावके स्वभाव हैं। जिसने एक ही भावको तत्त्वतः अनुभव कर लिया, उसने सभी भावोंको तत्त्वतः अनुभव कर लिया।'[1] इस सम्बन्धमें एक रहस्य-युक्ति है कि जिस-जिस शरीरमें संवित् दृढ़ताको प्राप्त होगी, वहीं-वहीं उसके सब गुण प्रकट हो जायँगे।[2]

अब इन गुणोंको ढँकनेवाले जो दुर्गुण हैं, उनका मूलोच्छेद करनेके लिए कहते हैं—

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ॥ ४० ॥

आत्मसंवित्के उल्लासको कुण्ठित, लुप्त या विनष्ट करनेवाली यदि कोई वस्तु इस शरीरमें है, तो वह है—ग्लानि। ग्लानि अर्थात् अनुत्साह। उत्साहसे ही स्वभावकी अभिव्यक्ति होती है। ग्लानिका जनक है—अज्ञान। यदि आत्मस्वभावके द्वारा उस अज्ञानको नष्ट कर दिया जाय तो जीवनमें ग्लानि अथवा अनुत्साह नहीं रह सकते। इसी अज्ञान और ग्लानिको मिटाकर योगी लोग जरा-मरणको मिटाकर शरीरको दृढ़ कर लेते हैं।

अब उन्मेषका स्वरूप बतलाते हैं—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ ४१ ॥

---

१. एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा ह्येकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ॥

२. रहस्ययुक्तिरत्रेयं शरीरे यत्र यत्र च।
संविदो दार्ढ्यलाभः स्यात्तत्र तत्र गुणोदयः ॥

पुरुष एक चिन्तामें संलग्न रहता है कि तुरन्त दूसरी चिन्ताका उदय हो जाता है। यह किससे होता है? इसीका नाम है उन्मेष। स्वयं उसका अनुभव करना चाहिए। पहली चिन्ताका भूलना और दूसरी चिन्ताका उदय होना—इन दोनोंमें और दोनोंके बीचमें उन्मेष ही है। उस उन्मेषसे अपने आत्माको पहचानना चाहिए। दो चिन्ताओंके बीचमें व्यापकरूपसे अनुभूयमान स्वसंवेद्य वही है। युवतीके सहवास-सुखके समान उपदेशगम्य नहीं है ॥ ४१ ॥

उन्मेषका अनुशीलन करनेपर प्रत्ययोंका उदय इस प्रकार होता है।

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः।
प्रवर्तते चिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ ४२ ॥

इस उन्मेषका अनुशीलन करनेसे थोड़े ही समयमें भ्रूमध्यमें तेजोबिन्दुका अनुभव होने लगता है। बिन्दुके अनन्तर अनाहत—अकृत्रिम नादका अनुभव होता है। इसीको शब्द-ब्रह्म कहते हैं। दूरसे श्रवणकी सिद्धि भी हो जाती है। अन्धकारमें रूपका दर्शन, देवताका दर्शन, सूक्ष्मातिसूक्ष्मका दर्शन, मुखमें अमृत और षड्रसका आस्वादन आदि। भला ये क्यों आते हैं? वस्तुतः ये क्षोभक हैं अर्थात् आत्मसंवित्की अनुभूतिमें विघ्न हैं। पतञ्जलिने योगदर्शनमें व्युत्थान कालमें सिद्धि और समाधिकालमें विघ्न माना है।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस बिन्दु, नाद प्रभृतिके निरूपण-क्रममें सृष्टिक्रम भी ध्वनित है। पहले कहा जा चुका है कि उन्मेषसे सृष्टि होती है। उन्मेषसे पहले बिन्दु = इच्छा—दृक्शक्तिका प्रसार। तदनन्तर शब्दात्मक नादकी उत्पत्ति होती है। वह

क्रियाशक्तिरूप वाक् है। इसके अनन्तर रूपका उदय होता है। वह है पदार्थका दर्शन और विचार। फिर उसीमें रस अर्थात् अभिलाषा और उपभोगका जन्म होता है। जो रहस्यवेदी अनुभवी महापुरुष हैं, वे इनको उद्योग, अवभास, चर्वण और विलापन कहते हैं। इस श्लोकमें इन चारोंके क्रम सूचित कर दिये गये हैं। विशेष अपनी परिभाषाके द्वारा प्रकृतका बाध नहीं करता। इससे स्वयं आत्मसंवित्का साक्षात्कार हो जाता है॥ ४२॥

वह साक्षात्कार कैसे होता है? इसका उपाय बतलाते हैं—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावबोत्स्यते॥ ४३॥

जब पुरुष दिदृक्षा = दर्शनकी इच्छामें स्थित-सा होकर सब पदार्थोंमें व्याप्त होकर बरतता है तो अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही अपने स्वभावका अवबोध—अनुभव-अवगम प्राप्त कर लेता है। यहाँ इस उपदेशका आशय समझने योग्य है। जैसे कोई कौतुहलकी वस्तु देखनेके लिए सावधान होकर विकास-वृत्तिसे सजग हो जाता है, वैसे ही सब पदार्थोंके दर्शनकी उन्मुखतारूप वृत्तिसे उद्यन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह स्वयं सर्वज्ञता आदि गुणास्पद अपने स्वभावको प्राप्त कर लेता है। यह बात मूल कारिकामें पहले ही कही जा चुकी है—'अतः सततमुद्युक्तः' इत्यादि। इस स्थितिको 'तत्त्वार्थ-चिन्तामणि'में 'रहस्यमुद्रा' कहा गया है। 'भोग मोक्षप्रदीपिका'में इसका वर्णन यों है—'उन्मेष-बलसे उद्यन्त्रित होकर अपने स्वरूपमें रहे। वह योगी आनन्दभूमिमें रहकर स्वयं आये हुए विषयोंका उपभोग भी करता रहता है। यह आनन्दभूमि अत्यन्त उच्छृङ्खल एवं परम विकस्वर है, परन्तु केवल उन लोगोंके लिए, जिनकी

बुद्धि प्रबुद्ध है। सिद्ध पुरुष सदा इसीमें आनन्दरत रहते हैं। यह परा मुद्रा है।' अन्यत्र भी कहा है—'दर्शनादि सारी शक्तियोंको चित्तसे उनके—उनके विषयमें एक साथ फेंक दो। उनके बीचमें स्वर्ण-स्तम्भके समान तुम स्थिर हो। सचमुच तुम एक ही विश्वाधार हो।' और भी—'वेश्या स्त्रीके समान चंचल नेत्रादि शक्तियाँ जहाँ-तहाँ स्वच्छन्द जाती रहती हैं। इन्हें केवल देखते रहो। इनका अनुगमन मत करो। सचमुच तुम सम्पूर्ण विश्वको धारण कर रहे हो और विश्वसे पृथक् हो ॥ ४३ ॥

इस स्थितिके लिए युक्ति बतलाते हैं—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम् ।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीड्यते ॥ ४४ ॥

अपनी शक्तियोंका संकोच किये बिना प्रबुद्ध, निर्विकल्प एवं सदा उद्युक्त=सावधान रहे। ज्ञानके सम्मुख जो भी विषय उपस्थित हो, उसको देखकर संवित्की दीप्तिसे ज्ञेयका लोप कर दे, उनको अविभागमें प्रतिष्ठित कर दे। तब उसे दूसरा कोई पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।

'भोग-मोक्षप्रदीपिका'में देखिए—'अविभाग-बोधकी अग्निसे विभागको विलुप्त करके वेद्य-पीयूषको पी जाय। फिर वह योगी शीघ्र ही तृप्त, नीरोग और एकाकी विचरण करने लगता है। यह क्रमार्थका सार है और शक्तियोंकी परधारा भूमिका। उसीकी अनुज्ञासे सच्छिष्योंके ज्ञानके लिए इसका वर्णन किया गया है; क्योंकि यह परधारा-भूमिका निर्विभाग है।' कहा गया है—'विभागके हेतु ये प्रसिद्ध हैं—देश, काल, क्रिया और आकार। जिसमें ये नहीं हैं, उसमें विभागका कोई कारण ही नहीं है।' और भी—'विषयसहित मन भस्म करना है। ज्ञानाग्नि अपनी दृष्टिसे

उसे भस्म करती है। उसके भस्म हो जानेपर अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता दोनों समाधि हो जाती हैं।' तथा च—'विज्ञानकी वाडवाग्नि प्रदीप्त होकर अपनी शक्तिसे ज्ञेय विषयरूप समुद्रोंको निरन्तर ग्रसती रहती है। दूसरा कोई उसके ग्रासमें समर्थ नहीं है। जल न मिलनेसे प्यास नहीं बढ़ती और बहुत-सा जल मिल जानेपर तृप्ति या कृतकृत्यता नहीं होती। यह ज्ञान ऐसा विलक्षण बडवानल है।

'यस्मात्सर्वमयो जीवः' इसकी व्याख्यामें इस विषयका सयुक्तिक वर्णन आप पढ़ चुके हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि तत्वका स्वभाव विद्यात्मक ज्ञानस्वरूप है। अतः सम्पूर्ण ज्ञेयको उससे एक कर देना चाहिए। बस, इस ऐक्यके होते ही दूसरी कलात्मक विकल्परूप शक्तियाँ फिर किसी प्रकारकी पीड़ा-बाधा नहीं पहुँचा सकतीं अर्थात् स्वरूपसे प्रच्युत नहीं कर सकतीं। कहा भी है—'आकाश एक और व्यापक है। दीवार आदिके संयोगसे उसमें बाह्य-आभ्यन्तरका भेद मालूम पड़ता है। इसी प्रकार पशुपति तत्त्वज्ञ ग्राह्य और ग्राहकको एक ही रूप देखता है। आपके समाधि-स्वरूपमें विक्षेप्य और विक्षेपक, व्याक्षिप्त और व्याक्षेप्यका कोई भेद नहीं है॥ ४४॥

इस प्रकार जो प्रबुद्ध पति है, वह दूसरेके द्वारा पीड़ित नहीं होता। इसका यह अभिप्राय स्वयं निकल आया कि जो अप्रबुद्ध पशु है, वही बार-बार संसारमें मार खाता रहता है। उसका लक्षण यह है—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः॥ ४५॥

वर्णसमूह ही शब्दराशि है। अकारसे लेकर क्षकारतक मातृका ही शब्द-जननी हैं; क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णात्मक हैं। उन्हींसे

चाहे कादि रूप, चाहे ब्राह्म्यादि-शक्तिरूप चक्रकी कलाओंसे अर्थात् ककारादि अक्षरोंसे श्रवण और उच्चारण द्वारा पुरुष अपने वैभवको खो बैठता है अर्थात् अपनी महाव्याप्तिको भुला देता है—स्वभावसे च्युत हो जाता है। इसका फल यह होता है कि वह जिन शक्तियोंका स्वामी है, उन्हींका भोग्य बनकर पुरुषके स्थानपर पशु हो जाता है। 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'में कहा है—सभी भाव अपनी गोदमें अपनी अङ्गचेष्टाके समान हैं। उनका स्वामी, प्रमाता, संवित् अथवा शिवके नामसे कहा जाता है। परन्तु उन्हीं भावोंमें जब वह फँस जाता है तब क्लेश पाता है और कर्मकी कीचड़से लथपथ पशु हो जाता है।' किसी महात्माका वचन है—'वस्तुतः भेदग्रन्थि स्वतः छिन्न-भिन्न है। उनके छिन्न-भिन्न होनेका ज्ञान होनेपर द्वैत है ही नहीं। इस बातको जो नहीं जानता, वह पशु है और जो जान लेता है, वह पशुपति है॥ ४५॥

इसलिए—

परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः॥ ४६॥

वह पशु जब कान, आँख आदि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका दर्शन करता है और उसके अन्तःकरणमें स्मरणादि ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, वही परामृत-रससे अर्थात् अपने स्वरूपोदयसे च्युति है; क्योंकि ये विषय-प्रत्यय पुरुषको परतन्त्र और परिच्छिन्न-सा बना देते हैं। सच पूछो तो ये विषय और स्मरण उसके व्यक्तिगत ही हैं अर्थात् उसीकी अभिलाषा = अन्तःकरणकी वृत्ति उन-उन रूपोंमें प्रकट हो रही है॥ ४६॥

यही कारण है कि—

स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोद्यताः।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः॥ ४७॥

इस पुरुषके स्वरूप=स्वभावको आच्छादित करनेके लिए ये शब्दरूप शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं अर्थात् क्रियाशक्तिके द्वारा ये पुरुषरूपको हमेशा ढँकना चाहती रहती हैं, क्योंकि बिना शब्दानुवेधके अर्थात् बिना वर्णानुगमके किसी ज्ञानसंवेदनरूप प्रत्ययका उदय नहीं होता। वस्तुत: ये शब्द ही एक ही तत्त्वको वाच्य-वाचक विभागसे दो रूपोंमें बाँटकर प्रकट करते हैं। 'वाक्यपदीय'में ठीक ही लिखा है—'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जिसमें शब्दका अनुगम न हो। सभी ज्ञान शब्दसे अनुविद्ध देखे जाते हैं।' पहले कह ही चुके हैं कि इस विश्व-व्यवहारका कारण वाक् ही है। अन्यत्र कहा है—'हे देव ! चित्‌की उन्मुखतामें सर्वदा बाध ही वाग्-रूप होता है। असलमें वही प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है, उसके बिना प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हा सकता ॥ ४७ ॥

यही क्रियाशक्ति बन्धन और मोक्षकी हेतु है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिध्द्युपपादिका ॥ ४८ ॥

यही क्रियात्मक शक्ति जो पशुओंको बन्धनमें डालती है और उनको यथेच्छ प्रवृत्त करती है, शिवस्वरूप तत्त्वज्ञ पुरुषके बन्धनका हेतु नहीं बनती। यह जब 'मेरी है' इस प्रकार जानी जाती है तब भोग-मोक्षरूप समग्र सिद्धियोंका कारण बन जाती है। इसका अज्ञान और स्वातन्त्र्य ही बन्धनका हेतु है और ज्ञातता तथा आत्माधीनता सिद्धिका। यह बात पहले ही कह चुके हैं कि उत्थान और पतनका कारण एक ही है ॥ ४८ ॥

यह शक्ति बन्धनका हेतु कैसे हो जाती है, इस बातको स्पष्ट करके समझाते हैं—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोहम्बुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थप्रत्ययोद्भवम् ॥ ४९ ॥

भुंङ्क्त परवशो भोग तद्भावात् संसरेदतः ।
संसृति-प्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥ ५० ॥

बात यह है कि पुर्यंष्टकके दो रूप हैं। एक सूक्ष्म आतिवाहिक है अर्थात् वह अभिलाषात्मक और तन्मात्र ही है। दूसरा स्थूल भौतिक भोग-शरीर है। सूक्ष्मशरीरसे आबद्ध अर्थात् अपनेको उससे घिरा हुआ माननेवाला पुरुष परवश होकर उसमें उठनेवाले सुख-दुःख आदि संवेदनरूप प्रत्ययोंका उपभोग करता है। वस्तुतः वह शब्दादिके अनुभव द्वारा ही प्रकट होता है और उतना ही उसका रूप है, मन, अहंकार, बुद्धि, अन्तःकरण। उसीको अपना स्वरूप मानकर वह शरीरी हो जाता है और संसारको प्राप्त होता है। हमारा कहना यह है कि जन्म-मरण और संसार-प्रलयके प्रवाहका यही कारण है। अपने प्रत्ययके सिवा संसारका दूसरा कारण नहीं है ॥ ५० ॥

अब बन्धनके उच्छेदका उपाय वर्णन करते हैं—

यदा त्वेकत्वसंरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार बन्ध और मोक्षका विचार करने पर बोधका उदय और प्रतिबन्धकी निवृत्ति हो जाती है।

दो पुर्यंष्टकोंमें-से किसी एक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यंष्टकमें पतित्वके सिंहासनपर आरूढ़ हो जाओ। अपने चित्तको विलीन कर लो। तब उनमें उदय-विलय होनेवाले शब्दादि प्रत्ययोंका नियन्त्रण हो जायगा। फिर तुम उनके भोग्य नहीं, भोक्ताभावको प्राप्त हो जाओगे। भोग्यरूप पशुत्वसे मुक्त होकर प्रभुभावको प्राप्त कर लोगे। कहा है—'पशुओंके पति होकर पशुओंके पति हो जाओ। पशुपति होते ही तत्काल पशुत्वसे मुक्त हो जाओगे।' 'स्वबोधोदय-

मंजरी' में वचन है—'जो कुछ भी मनोहर वस्तु तुम्हारे नेत्रोंके सम्मुख आये, एकाग्र होकर उसको तबतक भावना करो, जबतक मन लीन न हो जाय। निरोध तुम्हारा सेवक बन जायगा।'

इस प्रकार स्वातन्त्र्यकी प्राप्ति होती है तब पुरुष शक्ति-चक्रका स्वामी है माने उसकी सर्वज्ञता, सर्वाधिपतित्व निष्प्रतिबन्ध होकर अभिव्यक्त हो जाता है॥ ५१॥

ग्रन्थकर्ता आनन्दमें भरकर गुरुवाणीकी स्तुति करते हैं शिष्योंको शिष्टाचारकी शिक्षा देनेके लिए—

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम्।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम्॥ ५२॥

हमारे गुरुकी वाणी आश्चयमयी है। उसके वाच्य और वाचक—अर्थ और पद—दोनों ही विचित्र हैं। अगाध संदेहके समुद्रमें डूबते हुए लोगोंको पार करनेवाली यह नौका है। मैं उसीको वन्दना करता हूँ।

गुरुसे श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है। 'जयाख्य-संहिता'में कहा है—'स्वयं-प्रकाश भगवान् जगन्नाथ ही मन्त्रमय शरीर धारण करके करुणावश अपने शास्त्ररूपी करकमलोंसे संसार-समुद्रमें डूबते हुए लोगोंका उद्धार करते हैं।' 'नारद-संहिता'में वचन है—'संसारका मूलोच्छेद करनेवाले गुरुको अपने सर्वस्वकी दक्षिणा दे देना भी वहुत थोड़ा है।' 'स्वयं-प्रदीपिका'कारका कहना है कि जिसके मनमें भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा हो, उसे पहले गुरुका अन्वेषण करना चाहिए। भगवान्की पहचान होती है—शास्त्रसे और शास्त्रका अनुभवात्मक ज्ञान होता है गुरुसे। शास्त्रज्ञानसे विषयज्ञानका विलय हो जाता है। सच पूछो, तो पहचाननेभरकी देर है, भगवान् तो मिला हुआ ही है। अतएव शास्त्र और ईश्वर-

दोनोंसे गुरु श्रेष्ठ है। 'पञ्चरात्र'में भी कहा गया है कि 'गुरुके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा भगवान्के साथ' ॥ ५२ ॥

अब अपने सम्प्रदायका समाम्नान करते हैं—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥ ५३ ॥

श्रीभट्ट कल्लटने अपने तत्त्वार्थदर्शी गुरु वसुगुप्तसे यह रहस्य भलीभाँति प्राप्त करके श्लोकबद्ध किया।

यह ब्रह्मविद्याका बीज है। बिना परीक्षा किये अयोग्य क्षेत्रमें इसको नहीं बोना चाहिए। भट्ट कल्लटने ही अन्यत्र कहा है— 'सिद्धविद्या एक गुणवती कन्याके समान है। गुणवर्जित पुरुषके प्रति उसका दान करनेसे वह सम्भोग तो देती ही नहीं, दाताकी अपकीर्तिका कारण बनती है। इसलिए सद्गुणसम्पन्नको ही इस विद्याका उपदेश करना चाहिए' ॥ ५३ ॥

यह विद्या अविद्या-तमको निवृत्त करनेके लिए प्रकाशित की गयी है। 'स्पन्द-प्रदीपिका' शुद्धबोधिका उल्लास है, मात्सर्य छोड़कर इसके अर्थपर विचार करना चाहिए। यह एक आश्चर्य है। इसका अनादर नहीं करना चाहिए।

उत्पलाचार्य त्रिविक्रमके पुत्र एवं ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न हुए हैं। सच्छिष्योंके लिए इस प्रदीपिकाकी रचना की है। जैसे दीपक हाथमें लेकर चलनेवालेके चरण स्खलित नहीं होते, वैसे ही यह प्रदीपिका अमार्गमें भी प्रकाश देती है। सावधान होकर इस प्रदीपिकाको धारण करनेसे जीवन-कालमें ही पुरुष अपनी भगवत्ताका अनुभव करता है। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा?

●

★ सत्साहित्य पढ़िये ★

[स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती जी विरचित]

१.	माण्डूक्य-प्रवचन (आगम-प्रकरण)	६.००
२.	माण्डूक्यकारिका-प्रवचन (वैतथ्य-प्रकरण)	५.००
३.	श्रीमद्भागवत-रहस्य	२.५०
४.	भक्ति-सर्वस्व	५.००
५.	सांख्ययोग	६.५०
६.	ध्यानयोग	४.००
७.	कर्मयोग	४.००
८.	भक्तियोग	४.००
९.	अपरोक्षानुभूति	४.००
१०.	साधना और ब्रह्मानुभूति	३.५०
११.	नारदभक्ति-दर्शन	६.००
१२.	कपिलोपदेश	२.५०
१३.	ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना	६.५०
१४.	मानव-जीवन और भागवत-धर्म	३.००
१५.	भक्ति-रसायनम् (प्रपा-सहित)	१०.००
१६.	व्यवहार और परमार्थ	२.५०
१७.	विभूति-भोग	३.५०

अन्यान्य अनेक पुस्तकोंकी सूची निम्नलिखित पतेसे मँगाइये :

व्यवस्थापक
सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८/१६
बी० जी० खेर मार्ग, बम्बई—६